गंगा-पुस्तकमाला का १२८वाँ पुष्प

नैषध-चरित-चर्चा

श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी

नैषध
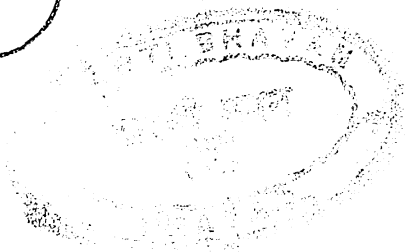
-चरित-चर्चा

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १३८वाँ पुष्प

नैषध-चरित-चर्चा

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

तृतीयावृत्ति

सजिल्द [१)] सं० १९९० वि० [सादी ।।।)

प्रकाशक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ
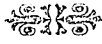
मुद्रक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस

लखनऊ

नया निवेदन

आज फिर कोई सोलह वर्ष बाद इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण निकल रहा है। इस बीच में श्रीहर्ष और उनके ग्रंथादि के विषय में किसी नई खोज का हाल लेखक को नहीं मालूम हुआ। अतएव दूसरे संस्करण में यह पुस्तक जैसी थी, वैसी ही इस संस्करण में भी प्रकाशित की जा रही है। रही भाषा की बात, सो उसमें कहीं-कहीं कुछ यों ही-सा संशोधन और परिवर्तन ज़रूर किया गया है।

दौलतपुर
(रायबरेली)
२९ जुलाई, १९३३ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

निवेदन

इस पुस्तक की पहली आवृत्ति निकले सोलह-सत्रह वर्ष हो गए। उसकी कापियाँ अप्राप्य हो जाने से यह दूसरी आवृत्ति प्रकाशित करनी पड़ी। इस बीच में नैषध-चरित के कर्ता महाकवि श्रीहर्ष के विषय में अनेक नई-नई बातें मालूम हुई हैं। उनमें से प्रायः सभी मुख्य-मुख्य बातों का समावेश इस आवृत्ति में कर दिया गया है। इस कारण पुस्तक के पूर्वार्द्ध में विशेष परिवर्तन करना पड़ा है। उत्तरार्द्ध में घटाने-बढ़ाने की बहुत कम आवश्यकता हुई है। हाँ, भाषा का संशोधन, थोड़ा-बहुत, सर्वत्र कर दिया गया है

जुही, कानपुर
१६ एप्रिल, १९१९

महावीरप्रसाद द्विवेदी

दो शब्द

पूज्यपाद द्विवेदीजी महाराज की हम पर भी बड़ी कृपा है। उसी कृपा के फल-स्वरूप हमें भी द्विवेदीजी-रचित कई ग्रंथ गंगा-पुस्तकमाला में गूँथने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह 'नैषध-चरित-चर्चा' विद्यार्थियों के बड़े काम की चीज़ है, और हमें आशा है, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और अन्यान्य शिक्षा-संस्थाएँ इसे अपने यहाँ पाठ्य पुस्तक नियत करने की कृपा करेंगे।

लखनऊ
ता० ४।१२।३३

दुलारेलाल भार्गव

विषयांश-निर्देश

नैषध-चरित-चर्चा

(१)

प्राक्कथन

"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ?"※

संस्कृत के पाँच प्रसिद्ध महाकाव्यों के अंतर्गत नैषध-चरित के नाम से प्रायः सभी काव्य-प्रेमी परिचित होंगे। जिन्होंने संस्कृत का ज्ञान नहीं प्राप्त किया, जो केवल हिंदी ही जानते हैं, उनके भी कान तक नैषध का नाम शायद पहुँचा होगा। आज हम इसी काव्य के विषय की चर्चा करना चाहते हैं।

संस्कृत का साहित्य-शास्त्र दो भागों में विभक्त है—एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। अभिनय अर्थात् नाटक-संबंधी जितने काव्य हैं, उनको दृश्य काव्य कहते हैं। परंतु उस विभाग से यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं। हमारा प्रयोजन यहाँ श्रव्य काव्य से है।

※ नैषध-काव्य के उदित होते ही कहाँ माघ और कहाँ भारवि ? अर्थात् नैषध के सामने इन दोनो की प्रभा क्षीण हो गई।

श्रव्य काव्य तीन प्रकार का है—गद्य-पद्यात्मक, गद्यात्मक और पद्यात्मक।

गद्य-पद्यात्मक काव्य को साहित्यज्ञ चंपू कहते हैं—जैसे रामायण-चंपू, भारत-चंपू इत्यादि। हिंदी में इस प्रकार का कोई अच्छा ग्रंथ नहीं; हाँ, लल्लूलाल के प्रेमसागर को हम यथा-कथंचित् इस कक्षा में सन्निविष्ट कर सकते हैं।

गद्यात्मक काव्य के दो विभाग हैं—आख्यायिका और कथा। उदाहरणार्थ—कथासरित्सागर, कादंबरी, वासवदत्ता इत्यादि। हिंदी के उपन्यास इसी विभाग के भीतर आ जाते हैं।

पद्यात्मक काव्य त्रिविध हैं—कोषकाव्य, खंडकाव्य, महाकाव्य।

कोषकाव्य उसे कहते हैं, जिसके पद्य एक दूसरे से कुछ भी संबंध नहीं रखते—जैसे आर्या-सप्तशती, अमरुशतक, भामिनीविलास इत्यादि।

खंडकाव्य महाकाव्य की अपेक्षा छोटा होता है, और प्रायः सर्ग-बद्ध नहीं होता। यदि सर्गबद्ध होता भी है, तो उसमें आठ से अधिक सर्ग नहीं होते। इसके अतिरिक्त और विषयों में भी उसमें महाकाव्य के लक्षण नहीं होते। मेघदूत, ऋतुसंहार, समयमातृका इत्यादि खंडकाव्य के उदाहरण हैं।

नैषध-चरित की गणना महाकाव्यों में है। दंडी कवि ने, अपने काव्यादर्श ग्रंथ में, महाकाव्य का जो लक्षण लिखा है, वह हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

कोई देवता, कोई राजा अथवा सद्वंशसंभूत कोई अन्य व्यक्ति, जिसका वर्णन किसी इतिहास अथवा किसी कथा में हुआ हो, अथवा न हुआ हो तो भी, उसके वृत्त का अवलंबन करके जो काव्य लिखा जाता है, उसे महाकाव्य कहते हैं। काव्य का नायक चतुर, उदात्त और अशेषसद्‌गुणसंपन्न होना चाहिए। महाकाव्य में नगर, पर्वत, नदी, समुद्र, ऋतु, चंद्र-सूर्योदय, उद्यान तथा जल-विहार, मधु-पान, रतोत्सव, विप्रलंभ-शृंगार, विवाह इत्यादि का वर्णन होना चाहिए। परंतु इनमें से कुछ न्यूनाधिक भी होने से काव्य का महाकाव्यत्व नष्ट नहीं होता। महाकाव्य रस, भाव और अलंकार-युक्त होना चाहिए और आठ से अधिक सर्गों में विभक्त होना चाहिए। अभी तक बाइस सर्ग से अधिक सर्गों के महाकाव्य नहीं देखे गए थे ❀। परंतु अब हरविजय-नामक एक पचास सर्ग का काव्य बंबई की काव्य-माला (मासिक पुस्तक) में प्रकाशित हुआ है। महाकाव्यों के प्रति सर्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार के वृत्त प्रयुक्त होते हैं; परंतु कभी-कभी दो-दो, चार-चार सर्ग भी एक ही वृत्त में निबद्ध रहते हैं। किसी-किसी सर्ग में अनेक वृत्त भी होते हैं। बहुधा प्रति सर्ग के अंत में दो-एक अन्य-अन्य वृत्तों के श्लोक होते हैं, और कभी-कभी ऐसे स्थलों में लंबे-लंबे वृत्त प्रयुक्त

❀ श्रीकंठ-चरित भी बहुत बड़ा काव्य है। उसमें २५ सर्ग हैं। परंतु उसके सर्ग इतने लंबे नहीं, जितने नैषध-चरित के हैं।

होते हैं। सब सर्ग न बहुत बड़े और न बहुत छोटे होने चाहिए। परंतु नैषध-चरित का प्रत्येक सर्ग और काव्यों के सर्गों की अपेक्षा बड़ा है। किसी-किसी सर्ग में २०० के लगभग श्लोक हैं, और अनुष्टुप् छंद का प्रयोग जिस सर्ग में है, उसमें तो श्लोकों की संख्या २०० के भी ऊपर पहुँची है। इसी से हर-विजय को छोड़कर और सब काव्यों से नैषध-चरित बड़ा है। संस्कृत के काव्य विशेष करके श्रृंगार और वीर-रसात्मक ही हैं; परंतु बीच-बीच में और रस भी हैं।

खेद का विषय है कि आज तक, हिंदी में, महाकाव्य-लक्षणाक्रांत एक भी काव्य नहीं बना ❀। तुलसीदास-कृत रामायण यद्यपि परम रम्य और मनोहर काव्य है, तथापि पूर्वोक्त लक्षण-युक्त न होने से आलंकारिकों के मतानुसार उसे महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं मिल सकता। परंतु हम तो उसे महाकाव्य ही नहीं, किंतु महामहाकाव्य कहने में भी संकोच नहीं करते।

बँगला और मराठी भाषाएँ हिंदी से अधिक सौभाग्य-शालिनी हैं। इन भाषाओं में महाकाव्यों की रचना हुए बहुत दिन हुए। वंगभाषा में माइकेल मधुसूदनदत्त-

❀ हाल में कुछ काव्य ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जो आलंकारिकों के लक्षणानुसार तो महाकाव्य नहीं, परंतु उनकी महत्ता प्राचीन महाकाव्यों से कम नहीं। प्रत्युत, समय को देखते, वे उनसे भी बढ़कर हैं।

प्रणीत मेघनाद-वध और बाबू हेमचंद्र वंद्योपाध्याय-प्रणीत वृत्र-संहार तथा मराठी में वासुदेव वामन शास्त्री खरे का लिखा हुआ यशवंतराव-महाकाव्य—ये सब महाकाव्यों की कक्षा में स्थान पाने योग्य हैं। यद्यपि इनमें दंडी-कथित महाकाव्य के सारे लक्षण नहीं पाए जाते, तथापि इनका कवित्व इतना मनोहर है कि इनको महाकाव्य कहना किसी प्रकार अनुचित नहीं। कवि की कल्पना-शक्ति स्फुरित होकर जब अभीष्ट वस्तु का वर्णन करती है, तभी कविता सरस और हृदयग्राहिणी होती है; नियम-बद्ध हो जाने से ऐसा कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि आलंकारिकों के कहे हुए मार्ग का पद-पद पर अनुसरण करने से कविता लिखने में जिन प्रसंगों की कोई आवश्यकता नहीं होती, वे भी बलात् लाने पड़ते हैं, और तदनुकूल वर्णन करना पड़ता है। यह बलात्कार कविता के रमणीयत्व का विघातक होता है। अतः हम पूर्वोक्त नियमरूपी शृंखला से अतिशय बद्ध होने के पक्ष में नहीं।

---

(२)

श्रीहर्ष नाम के तीन पुरुष

नैषध-चरित के कर्ता श्रीहर्ष का जीवन-चरित बहुत ही कम उपलब्ध है। अपने ग्रंथ में इन्होंने अपने विषय में जो दो-चार बातें कह दी हैं, वे ही प्रामाणिक मानी जाने योग्य हैं। इनके समय तक का निर्भ्रांत निरूपण नहीं हो सकता, यह और भी दुःख की बात है। यदि हमारे देश का प्राचीन इतिहास लिखा गया होता, तो ऐसे-ऐसे प्रबंधों के लिखने में उसका अतिशय उपयोग होता। हमारे पूर्वज और अनेक विषयों में निष्णात होकर भी इतिहास लिखने से इतने पराङ्मुख क्यों रहे, इसका कारण ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। वे प्रवास-प्रिय न थे, अथवा मनुष्य-चरित लिखना वे निंद्य समझते थे, अथवा जीवन-चरित उन्होंने लिखे, परंतु ग्रंथ ही लुप्त हो गए—चाहे कुछ हो, इस देश का पुरातन इतिहास बहुत ही कम प्राप्त है, इसमें संदेह नहीं।

भाद्रपद की घोर अंधकारमयी रात्रि में जैसे अपना-पराया नहीं सूझ पड़ता, वैसे ही इतिहास के न होने से ग्रंथ-समूह का समय-निरूपण अनेकांश में असंभव-सा हो गया है। कौन आगे हुआ, कौन पीछे हुआ, कुछ नहीं कहा जा सकता।

इससे हमारे साहित्य के गौरव की बड़ी हानि हुई है। कभी-कभी तो समय और प्रसंग जानने ही से परमानंद होता है। परंतु, खेद है, संस्कृत-भाषा के ग्रंथों की इस विषय में बड़ी ही दुरवस्था है। समय और प्रसंग का ज्ञान न होने से अनेक ग्रंथों का गुरुत्व कम हो गया है। इस अवस्था में भी, जब संस्कृत के विशेष-विशेष ग्रंथों की इतनी प्रशंसा हो रही है तब, किस समय, किसने, किस कारण, कौन ग्रंथ लिखा—इन सब बातों का यदि यथार्थ ज्ञान होता, तो उनकी महिमा और भी बढ़ जाती। जिस प्रकार वन में पड़ी हुई एक सौंदर्य-वती मृत स्त्री के हाथ, पैर, मुख आदि अवयव-मात्र देख पड़ते हैं, परंतु यह पता नहीं चलता कि वह कहाँ की है, और किसकी है, वैसे ही इतिहास के बिना हमारा संस्कृत-ग्रंथ-साहित्य लावारिस-सा हो रहा है। यही साहित्य यदि इतिहासरूपी आदर्श में रखकर देखने को मिलता, तो जो आनंद अभी मिलता है, उससे कई गुना अधिक मिलता। राजतरंगिणी, विक्रमांकदेव-चरित, कुमारपाल-चरित, प्रबंधकोश, पृथ्वीराज-विजय इत्यादि ग्रंथों का प्रसंगवशात् कभी-कभी कुछ उपयोग होता है, परंतु 'इतिहास' में इनकी गणना नहीं। इन्हें तो काव्य ही कहना चाहिए, क्योंकि देश-ज्ञान, काल-क्रम और सामाजिक वर्णन तथा राजनीतिक विवेचन, जो इतिहास के मूलाधार हैं, उनकी ओर इन ग्रंथों में विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया।

एतद्देशीय और विदेशीय विद्वानों ने जो कुछ आज-पर्यंत खोज करके पता लगाया है, उसकी पर्यालोचना करने से हर्ष नाम के तीन पुरुष पाए जाते हैं। एक श्रीहर्ष नाम का काश्मीर-नरेश, दूसरा हर्षदेव अथवा हर्षवर्द्धन नाम का कान्यकुब्ज-नृप (इसका दूसरा नाम शीलादित्य भी था), तीसरा श्रीहर्ष-नामक कवि। अब यह देखना है कि इन तीनो में से नैषध-चरित किसकी अपूर्व प्रतिभा का विजृंभण है।

प्रथम काश्मीराधिपति श्रीहर्ष के विषय में विचार कीजिए। कलहण-कृत राजतरंगिणी ❀ के अनुसार इस श्रीहर्ष को सन् १०९१ और १०९७ ईसवी के बीच काश्मीर का सिंहासन प्राप्त हुआ था। इस काल-निर्णय से महामहोपाध्याय पंडित महेशचंद्र न्यायरत्न† तथा बाबू रमेशचंद्र दत्त‡ ये दोनो विद्वद्रत्न सहमत हैं। कुमारी मेबल डफ और मिस्टर

❀ राजतरंगिणी के ४ भाग हैं। प्रथम भाग में सन् ११४८ ईसवी तक का वृत्त वर्णित है। उसके कर्ता कल्हण पंडित हैं। दूसरे भाग की रचना जोनराज ने की है। उसमें सन् १४१२ ईसवी-पर्यंत काश्मीर का इतिहास है। तीसरा भाग श्रीवर पंडित के द्वारा लिखा गया है। उसमें सन् १४७७ ईसवी तक के इतिवृत्त का समावेश है। चतुर्थ भाग में प्रजय भट्ट ने अकबर द्वारा काश्मीर-विजय से लेकर शाहे-आलम बादशाह के समय तक का वर्णन किया है।

† काव्य-प्रकाश की भूमिका देखिए।

‡ See History of Civilization in Ancient India

विंसेंट स्मिथ हर्ष का राजत्व-काल १०८६ से ११०१ ईसवी तक मानते हैं। राजतरंगिणी के सप्तम तरंग का श्लोक ६११ यह है—

सोऽशेषदेशभाषाज्ञः सर्वभाषासु सत्कविः ;
कृती विद्यानिधिः प्राप ख्यातिं देशान्तरेष्वपि।

इससे स्पष्ट है कि राजा श्रीहर्ष सर्व-भाषा-निपुण, परम विद्वान् और उत्तम कवि था। परंतु उसका बनाया हुआ नैषध-चरित कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि ग्रंथकार ने ग्रंथ के अंत में स्वयं लिखा है—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।

जिसे कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ पान के दो बीड़े और आसन प्राप्त होने का गर्व है, वह कदापि स्वयं राजा नहीं हो सकता। फिर, जिस श्रीहर्ष ने नैषध-चरित बनाया है, उसी ने 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' और 'साहसांक-चरित' भी बनाया है। यह बात, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा, नैषध ही से स्पष्ट है। तब कहिए, एक राजा दूसरे राजा की प्रशंसा में क्यों काव्य-रचना करने बैठेगा? एक बात और भी है। वह यह कि राजतरंगिणी में नैषध-चरित का कुछ भी उल्लेख नहीं। जिस समय जिसने जो-जो ग्रंथ लिखे हैं, उसका सविस्तर वर्णन इस ग्रंथ में है; परंतु नैषध-चरित का नाम न होने से यही निश्चय होता है कि इस महाकाव्य का कर्ता कोई और ही है। प्रसिद्ध नाटक 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' भी श्रीहर्ष ही के नाम

से ख्यात हैं; परंतु ये दोनो ग्रंथ भी काश्मीर-नरेश श्रीहर्ष के लिखे हुए नहीं हैं। यह बात आगे प्रमाणित की जायगी।

दूसरा श्रीहर्ष कान्यकुब्ज का राजा था। इसका पूरा नाम हर्ष-देव था। इस राजा के शासन आदि का वर्णन विंसेंट स्मिथ साहब ने बड़े विस्तार से लिखा है। यह उनकी पुस्तक— Early History of India—में मिलेगा।

ईसवी सन् के अनुमान ६०० वर्ष पहले बौद्धमत का प्रादुर्भाव हमारे देश में हुआ। यह मत कई सौ वर्षों तक बड़ी धूम-धाम से भारतखंड में प्रचलित रहा। परंतु ईसवी सन् के आरंभ में वैदिक और बौद्धमतावलंबियों में परस्पर वाद-प्रतिवाद होते-होते इतना धर्म-विप्लव हुआ कि बौद्ध लोगों को यह देश छोड़कर अन्यान्य देशों को चले जाना पड़ा। उन लोगों ने लंका, कोरिया, श्याम, चीन, तिब्बत आदि देशों में जाकर अपना जी बचाया, और अपना धर्म रक्षित रक्खा। उन देशों में यह मत बड़ी शीघ्रता से फैल गया। इन्हीं देशांतरित बौद्ध लोगों में से ह्वेनसांग-नामक एक प्रवासी, ईसवी सन् के सप्तम शतक के आरंभ में, बुद्ध की जन्मभूमि भारतवर्ष का दर्शन करने और संस्कृत-भाषा सीखने के लिये चीन से आया। १६ वर्ष तक इस देश में रहकर वह ६४५ ईसवी में चीन को लौट गया। वहाँ जाकर उसने प्रवास-वर्णन-विषयक, चीनी भाषा में, एक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ का अनुवाद बील साहब ने अँगरेजी में किया है। उसे देखने से भारतवर्ष-विषयक सप्तम

शतक का बहुत कुछ वृत्तांत ज्ञात होता है। ह्वेनसांग ने भारत-वर्ष में जो कुछ देखा, और जिन-जिन राजों की राजधानियों अथवा राज्यों में वह गया, उन सबका वर्णन उसने अपने ग्रंथ में किया है। इसी ग्रंथ में ह्वेनसांग ने कान्यकुब्जाधिपति श्रीहर्ष का भी वर्णन किया है। इस राजा ने ६०६ से ६४८ ईसवी तक राज्य किया। कई विद्वानों ने बड़ी योग्यता से इस समय का निर्णय किया है। मिस्टर रमेशचंद्र दत्त, डॉक्टर हाल, मिस्टर विंसेंट स्मिथ सभी इससे सहमत हैं। यह वही श्रीहर्ष है, जिसके आश्रय में प्रसिद्ध कादंबरीकार बाण पंडित था। बाण ने अपने हर्ष-चरित-नामक गद्यात्मक ग्रंथ में इस राजा का चरित वर्णन किया है, और अपना राजाश्रित होना भी बताया है।

नैषध-चरित के कर्ता ने कान्यकुब्ज-नरेश द्वारा सम्मानित होना स्पष्ट लिखा है। अतः यह काव्य इस श्रीहर्ष की कृति नहीं हो सकती। कान्यकुब्ज का राजा कान्यकुब्ज के राजा से किस प्रकार आदृत होगा ? फिर एक समय एक ही देश में दो राजे किस प्रकार रह सकेंगे ?

ऊपर हम लिख आए हैं कि 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानंद' भी श्रीहर्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पुस्तकों की प्रस्तावना में लिखा है कि राजा श्रीहर्ष ही ने इनकी रचना की है। अब देखना चाहिए कि यहाँ किस श्रीहर्ष से अभिप्राय है। ये दोनों नाटक काश्मीराधिपति श्रीहर्ष-कृत नहीं हो सकते, क्योंकि राजतरंगिणी में इनका कहीं नाम नहीं। जब छोटे-छोटे

ग्रंथों का भी नाम इतिहास-बद्ध किया गया है, तब राजतरंगिणी में इनका कहीं भी नाम न मिलने से यही प्रमाणित होता है कि ये काश्मीर के राजा श्रीहर्ष के रचे हुए नहीं हैं।

काश्मीर में अनंतदेव-नामक नरेश श्रीहर्ष के पहले हो गया है। राजतरंगिणी के सप्तम तरंग में, १३५ से २३५ श्लोकों तक, अनंतदेव का वर्णन है। उससे व्यक्त होता है कि यह राजा १०६५ ईसवी के लगभग, अर्थात् श्रीहर्ष से कोई २६ वर्ष पहले, विद्यमान था। जिस समय काश्मीर में अनंतदेव सिंहासनासीन था, उसी समय राजा भोज धारा में था। डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र* ने भोज का समय १०२६ से १०८३ ईसवी तक, अथवा दो-एक वर्ष इधर-उधर, स्थिर किया है। राजा भोज ने सरस्वतीकंठाभरण-नामक अलंकार-शास्त्र का एक ग्रंथ बनाया है। यह ग्रंथ उसी प्रसिद्ध मालवाधिप भोज-देव-कृत है। इस बात को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। अब देखिए, सरस्वतीकंठाभरण में रत्नावली के कई श्लोक उदाहरण-स्वरूप उद्धृत हैं। यदि रत्नावली काश्मीर-नरेश श्रीहर्ष-कृत होती, तो उसके श्लोक भोज-कृत सरस्वतीकंठाभरण में कदापि उद्धृत न हो सकते, क्योंकि भोजदेव के अनंतर श्रीहर्ष ने काश्मीर की गद्दी पाई थी। यदि भोज की मृत्यु १०८३ ईसवी में हुई मानी जाय, तो श्रीहर्ष के राज्य-प्राप्ति-काल (१०९१ और १०९७ ईसवी के मध्य) से थोड़ा ही अंतर रह जाता

* See Indo-Aryans, Vol. II.

है। परंतु राजा होने के पहले ही श्रीहर्ष ने रत्नावली लिखी, और लिखी जाने पर वह वर्ष ही छ महीने में काश्मीर से मालवा पहुँची, यह असंभव-सा जान पड़ता है। यही मत महामहोपाध्याय पंडित महेशचंद्र न्यायरत्न का भी है।

काश्मीर-देशवासी मम्मट भट्ट-कृत काव्य-प्रकाश में लिखा है—

"श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्"

इसकी टीका पंडित महेशचंद्र न्यायरत्न ने इस प्रकार की है—

"धावकः किल श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहुधनं लब्धवानिति प्रसिद्धिः।"

अर्थात् धावक कवि ने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली की रचना करके बहुत धन प्राप्त किया। इस आख्यायिका का अवलंबन करके रत्नावली और नागानंद का कर्तृत्व लोग श्रीहर्ष पर मढ़ते हैं। परंतु इस कथा से काश्मीराधिपति श्रीहर्ष का कोई संबंध नहीं। यदि धावक द्वारा रत्नावली का रचा जाना मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह एकादश शताब्दी से बहुत पहले लिखी गई थी, क्योंकि मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में कालिदास ने कहा है—

"मा तावत्। प्रथितयशसां धावकसौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ किं कृतो बहुमानः?"

इससे स्पष्ट है कि धावक कालिदास से पहले हो गया है। प्रोफ़ेसर वेबर* और लासन* के मत में कालिदास ईसवी

* See History of Indian Literature.

सन् की दूसरी और चौथी शताब्दी के मध्य में वर्तमान थे। परंतु डॉक्टर कर्न* के मत में यह छठी शताब्दी के आदि में थे। बाबू रमेशचंद्र दत्त† का भी वही मत है, जो डॉक्टर कर्न का है। अब तो कालिदास का समय ईसवी सन् की पाँचवीं या छठो शताब्दी भी माना जाने लगा है। अतः यह सिद्ध है कि धावक कवि छठो शताब्दी के प्रथम हुआ है। जब यह सिद्ध है, तब श्रीहर्ष से उसका धन पाना किसी प्रकार संभव नहीं, क्योंकि दोनो श्रीहर्ष उसके बहुत काल पीछे हुए हैं।

रत्नावली धावक ने नहीं बनाई; काश्मीर-नरेश श्रीहर्ष ने नहीं बनाई। फिर बनाई किसने? यदि उसे कान्यकुब्जाधीश श्रीहर्ष-कृत मानते हैं, तो इस राजा के सुशिक्षित और विद्वान् होने पर भी इसका कवि होना कहीं नहीं लिखा। यदि नैषध-चरितकार श्रीहर्ष-कृत मानते हैं, तो नैषध में उसी कवि के किए हुए और ग्रंथों के जो नाम हैं, उनमें रत्नावली का नाम नहीं आया। इसलिये यह शंका सहज ही उद्भूत होती है कि यह नाटिका किसी और ही ने लिखी है।

एक बार डॉक्टर बूलर ने काश्मीर में घूम-फिरकर वहाँ अनेक हस्त-लिखित पुस्तकें प्राप्त कीं। इन पुस्तकों में काव्य-प्रकाश की जितनी प्रतियाँ उनको मिलीं, उन सभी में 'श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' के स्थान में 'श्रीहर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्'—यह

---

* See History of Indian Literature.

† See History of Civilization in Ancient India.

पाठ मिला। इस विषय पर उन्होंने एक लेख प्रकाशित किया। उसी के आधार पर डॉक्टर हाल ने वासवदत्ता की भूमिका में यह लिखा है कि बाण ही ने कान्यकुब्जाधीश्वर श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली और नागानंद की रचना की है। जिस मम्मट भट्ट ने काव्य-प्रकाश बनाया है, वह काश्मीर ही का निवासी था। अतएव काश्मीर में प्रचलित काव्य-प्रकाश की प्रतियों में धावक का नाम न मिलने से यही अनुमान होता है कि वह इस ओर की पुस्तकों में प्रमाद-वश लिखा गया है, और एक को देख दूसरी प्रति करने में वही प्रमाद होता चला आया है। किसी-किसी का यह भी मत है कि बाण भट्ट ही का दूसरा नाम धावक था। इस समय अनेक पुरातत्त्व-वेत्ताओं की यही सम्मति है कि रत्नावली, नागानंद, प्रियदर्शिका, कादंबरी का पूर्वार्द्ध, हर्ष-चरित, पार्वती-परिणय-नाटक और चंडीशतक ग्रंथ एक ही कवि अर्थात् बाण ही के रचे हुए हैं। उसी ने रत्नावली की रचना करके कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष से बहुत-सा धन प्राप्त किया, और उसी ने हर्षचरित-नामक ग्रंथ में श्रीहर्ष का चरित लिखा है। परंतु ऐसे भी कई विद्वान् हैं, जो कान्यकुब्ज-नरेश श्रीहर्ष को कवि मानते हैं, और रत्नावली आदि नाटकों की रचना करनेवाला उसी को समझते हैं।

बाण भट्ट के विषय में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। वह प्रसंग-वश हम यहाँ लिखे देते हैं—

हर्ष-चरित के प्रथमोच्छ्वास के अंत में बाण ने अपने पिता

का नाम चित्रभानु और माता का राज्यदेवी लिखा है। बाण की जन्मभूमि सोन-नदी के पश्चिम ओर प्रीतिकूट-नामक ग्राम था। माता-पिता का वियोग इसे बाल्यावस्था ही में सहन करना पड़ा था। १४ वर्ष की उम्र में भद्रनारायण, ईशान और मयूरक नामी अपने तीन मित्रों के साथ इसने विदेश-यात्रा की, और कान्य-कुब्ज-प्रदेश में पहुँचने पर वहाँ के राजा श्रीहर्ष के यहाँ आश्रय पाया। सुनते हैं, बाण भट्ट के मित्र मयूरक अथवा मयूर को कुष्ठ हो गया था। तन्निवारणार्थ मयूर ने सूर्यशतक-काव्य लिखकर सूर्य देवता को प्रसन्न किया। इसका यह फल हुआ कि मयूर का कुष्ठ जाता रहा। इस अलौकिक कवित्व-प्रभाव को देखकर बाण को यहाँ तक मत्सर उत्पन्न हुआ कि उसने अपने हाथ और पैर दोनो तोड़ लिए, और तोड़कर भगवती चंडिका के प्रीत्यर्थ चंडीशतक की रचना की। चंडी की दया से उसके हाथ-पैर पुनः पूर्ववत् हो गए। इस आख्यायिका की सत्यता अथवा असत्यता के विचार करने का यहाँ प्रयोजन नहीं; और यदि हो भी, तो तदर्थ कोई परिपुष्ट प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। तथापि यह निर्विवाद है कि ये दोनो शतक उत्तम कविता के नमूने हैं। ये प्रचलित भी हैं। प्रत्येक का आदिम श्लोक हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं—

सूर्यशतक

जम्भारातीभकुम्भोद्भवमिव दधतः सान्द्रसिन्दूररेणुं
रक्ताःसिक्ता इवौघैरुदयगिरितटीधातुधाराद्रवस्य ;

आयान्त्या तुल्यकालं कमलवनरुचेवारुणा वो विभूत्यै
भूयासुर्भासयन्तो भुवनमभिनवा भानवो भानवीयाः।

चंडीशतक

मा भाङ्क्षीर्विभ्रमं भ्रूरधर ! विधुरता केयमस्यास्य ! रागं
पाणे!प्राण्येव नाऽयं॰ कलयसि कलहश्रद्धया किं त्रिशूलम्;
इत्युद्यत्कोपकेतून्प्रकृतिमवयवान्प्रापयन्त्येव देव्या
न्यस्तो वो मूर्ध्नि मुष्यान्मरुदसुहृदसून्संहरन्नङ्घ्रिरंहः।

सूर्यशतक का श्लोक अनुप्रास-बाहुल्य से भरा हुआ है। उसमें उतना रस नहीं है, जितना चंडीशतक के श्लोक में है। चंडीशतक का पद्य बहुत सरस है। इस कारण हम उसका भावार्थ भी लिखे देते हैं—

हे भृकुटि ! तू अपने स्वाभाविक विभ्रम का भंग मत कर। हे ओष्ठ ! यह तेरी व्याकुलता कैसी ? हे मुख ! (क्रोधव्यजक) अरुणिमा को छोड़। हे हस्त ! यह एक साधारण प्राणी है; कोई विलक्षण जीव नहीं। फिर, युद्ध की इच्छा से तू क्यों त्रिशूल उठा रहा है ? कोप के चिह्नों से युक्त अपने अवयवों को इस प्रकार संबोधन-पूर्वक प्रकृतिस्थ-सी करनेवाली भगवती चंडिका का, महिषासुर के प्राण हरण करके, उसके मस्तक पर रक्खा हुआ चरण तुम्हारा पातकोत्पाटन करे !

इन श्लोकों में 'वः' (तुम्हारा) के स्थान में यदि 'नः'

॰ ना = पुरुषः।

(हमारा) होता, तो यह पिछला प्रयोग पूर्वोक्त किंवदंती का अंशतः समर्थक हो जाता।

कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष के प्रसंग में यहाँ पर हमें बाण-भट्ट की भी कुछ बातें लिखनी पड़ीं। इस कवि के विषय में श्रीयुत पांडुरंग गोविंद शास्त्री पारखी ने कोई २०० पृष्ठों की एक पुस्तक मराठी में लिखी है। वह बड़ी खोज से लिखी गई है। जिन्हें इस कवि के विषय में विशेष बातें जाननी हों, वे इस पुस्तक को देखें।

---

(३)

श्रीहर्ष-विषयक कुछ बातें

यहाँ तक के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि काश्मीर और कान्यकुब्ज के नरेश श्रीहर्ष का नैषध-चरित के रचयिता श्रीहर्ष से कोई संबंध नहीं। नैषध में कवि ने प्रत्येक सर्ग के अंत में एक-एक श्लोक ऐसा दिया है, जिसका प्रथमार्द्ध सब सर्गों में वही है। यथा, प्रथम सर्ग में—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं ;
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।

अर्थात् सकल कवियों के मुकुटमणि श्रीहीर-नामक पिता, और मामल्लदेवी नाम्नी माता, ने जिस जितेंद्रिय सुत श्रीहर्ष को उत्पन्न किया—

तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभंग्या महा-
काव्ये चारुणि* नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः।

उसके चिंतामणिमंत्र की उपासना का फल-स्वरूप शृंगाररस-प्रधान, अत्यंत रमणीय, नैषध-चरित, महाकाव्य का प्रथम सर्ग समाप्त हुआ।

---

* इस श्लोकार्द्ध में 'चारुणि' पद ध्यान में रखने योग्य है। श्रीहर्ष की यह प्रथम गर्वोक्ति है।

इससे यह जाना गया कि श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी था। परंतु ये कौन थे? कब हुए? कहाँ रहे? कहाँ-कहाँ गए? इत्यादि बातों का विशेष पता नहीं लगता। इनके विषय में जो विशेष बातें जानी गई हैं, उनका उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ पर विद्वानों के कुछ अनुमानों का उल्लेख किया जाता है।

डॉक्टर बूलर का अनुमान है कि नैषध-चरित ईसवी सन् की बारहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। बाबू रमेशचंद्रदत्त लिखते हैं* कि राजशेखर ने श्रीहर्ष की जन्मभूमि काशी बतलाई है और बंगदेश के प्रधान कवि विद्यापति ने, जो चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं, यहाँ तक कहा है कि श्रीहर्ष बंगदेश के वासी थे। बाबू रमेशचंद्रदत्त का कथन है कि पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानों ने, श्रीहर्ष का पश्चिमोत्तर प्रदेश छोड़कर, बंगदेश को जाना जो अनुमान किया है, उसका सत्य होना संभव है। परंतु कोई-कोई नैषध-चरित के सोलहवें सर्ग के अंतिम—

काश्मीरैर्महिते† चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा-

काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत् षोडशः।

इस श्लोकार्द्ध से श्रीहर्ष का संबंध काश्मीर से बतलाते हैं। श्लोकार्द्ध का भाव यह है कि चतुर्दश विद्याओं में पारंगत

---

* See, History of Civilization in ancient India. Vol. III.

† 'महिते' पद का प्रयोग करना श्रीहर्ष की दूसरी दर्पोक्ति हुई।

काश्मीरदेशीय विद्वानों ने जिस महाकाव्य की पूजा की है, उस नैषध-चरित का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

किसी-किसी पंडित के मुख से हमने यह भी सुना है कि काव्यप्रकाश के बनानेवाले प्रसिद्ध आलंकारिक मम्मट भट्ट श्रीहर्ष के मामा थे। इस संबंध में एक श्रुजनति भी है। इसे पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने अपने एक निबंध में स्थान भी दिया है। कौतुकावह होने के कारण हम भी उसे नीचे* फुट नोट में लिखते हैं।

---

* कहते हैं, नैषध-चरित की रचना करके श्रीहर्ष ने उसे अपने मामा मम्मट भट्ट को दिखलाया। मम्मट भट्ट ने उसे साद्यंत पढ़कर श्रीहर्ष से खेद प्रकाशित किया और कहा कि यदि तुम इस काव्य को लिखकर कुछ पहले हमें दिखलाते, तो हमारा बहुत कुछ परिश्रम बीच जाता। काव्यप्रकाश के सप्तमोल्लास में दोषों के उदाहरण देने के लिये नाना ग्रंथों से जो हमने दूषित पद्य संग्रह किए हैं, उसमें हमको बहुत परिश्रम और बहुत खोज करनी पड़ी है। यदि तुम्हारा नैषध-चरित उस समय हमारे हाथ लग जाता, तो हमारा प्रायः सारा परिश्रम बच जाता। क्योंकि अकेले इसी में सब दोषों के उदाहरण भरे हुए हैं। श्रीहर्ष ने पूछा, दो-एक दोष बतलाइए तो सही। इस पर मम्मट भट्ट ने द्वितीय सर्ग का बासठवाँ श्लोक पढ़ दिया। इस श्लोक का प्रथम चरण यह है—"तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं" जिसका अर्थ है 'तुम्हारी यात्रा कल्याणकारिणी हो।' परंतु इसी चरण का पदच्छेद दूसरे प्रकार से करने पर उलटा अर्थ निकलता है—"तव वर्त्म निवर्ततां शिवं" अर्थात् 'तुम्हारी यात्रा अकल्याणकारिणी हो।' यह वाक्य दमयंती के पास जाने को प्रस्तुत हंस से नल ने कहा है।

काश्मीरवासी पंडितों के द्वारा नैषध-चरित की पूजा होना संभव है। परंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि श्रीहर्ष उस देश के रहनेवाले थे। श्रीहर्ष किसी कान्यकुब्ज राजा के यहाँ थे, यह तो निर्भ्रांत ही है। राजों के यहाँ देश-देशांतर से पंडित आया ही करते हैं। काश्मीर-देश के पंडित कान्यकुब्जेश्वर के यहाँ आए होंगे और प्रसंगवशात् वहाँ नैषध-चरित को देखकर उसकी प्रशंसा की होगी। अथवा नैषध-चरित को काश्मीर ही में देखकर उन्होंने उसकी प्रशंसा की होगी। इसमें आक्षेप का कारण नहीं देख पड़ता। विद्या के लिये काश्मीर प्रसिद्ध था। इस कारण पंडितों की समालोचना के लिये श्रीहर्ष के द्वारा नैषध-चरित का वहाँ भेजा जाना असंभव नहीं। इस विषय में लिखित प्रमाण भी मिला है। उसका उल्लेख आगे होगा। अतएव इस इतनी बात से श्रीहर्ष का काश्मीरवासी होना प्रमाणित नहीं हो सकता। रही मम्मट भट्ट और श्रीहर्ष की आख्यायिका, सो वह ऐतिहासिक न होने के कारण किसी प्रकार विश्वसनीय नहीं। अकबर और बीरबल तथा भोज और कालिदास-विषयक किंवदंतियाँ जैसे नित्य नई सुनते हैं, वैसे ही यह भी है।

फ़र्रुख़ाबाद के ज़िले में क़न्नौज के पास मीराँसराय नाम का एक क़स्बा है। वहाँ विशेष करके कान्यकुब्ज मिश्र लोगों की बस्ती है। ये मिश्र श्रीहर्ष को अपना पूर्वज बतलाते हैं और कहते हैं कि हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परंतु श्रीहर्षजी ने एक यज्ञ

किया, जिससे हम मिश्र-पदवी को प्राप्त हुए। श्रीहर्षजी का राजमान्य होना भी ये सूचित करते हैं। परंतु वे हुए कब, इसका पता उन्हें नहीं। जैसा कि आगे लिखा जायगा, इन लोगों का अनुमान सच जान पड़ता है। मीराँसराय में रहनेवाले विद्वान् का वहीं निकटवर्ती क़न्नौज के राजा की सभा में रहना बहुत ही संभव है।

सुनते हैं, वंगदेश में पहले सत्पात्र ब्राह्मण न थे। इस न्यूनता को दूर करने के लिये सेनवंशीय आदि-शूर-नामक राजा ने कान्यकुब्ज-प्रदेश से परम विद्वान् पाँच ब्राह्मणों को बुलाकर अपने देश में बसाया था। इन पाँच में से एक श्रीहर्षनामी भी थे। डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र ने आदि-शूर का स्थिति-काल ईसवी सन् की दशम शताब्दी (९८६) में स्थिर* किया है। यदि यह वही श्रीहर्ष थे, जिन्होंने नैषध-चरित लिखा है, तो डॉक्टर बूलर का यह कहना ठीक नहीं कि नैषध-चरित बारहवीं शताब्दी का काव्य है। नैषध-चरित के सप्तम सर्ग के अंत में—

गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं† तन्महा-

काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः।

और नवम सर्ग के अंत में—

---

* See, Indo-Aryans, Vol. II.

† अर्थात् 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति'-नामक काव्य के भ्राता नैषध-चरित का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ।

संदृब्धार्णववर्णनस्य* नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।†

ये जो श्लोकार्द्ध हैं, इनसे जाना जाता है कि श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' और 'अर्णववर्णन' ये दो काव्य लिखे हैं। समुद्र-वर्णन और गौड़ेश्वर की प्रशस्ति-रचना से अनुमान होता है कि श्रीहर्ष कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ से गौड़ देश को गए होंगे। क्योंकि वहाँ गए बिना वहाँ के राजा तथा समुद्र का वर्णन युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। गौड़ जाने ही पर समुद्र के दर्शन हुए होंगे और दर्शन होने ही पर उसका वर्णन लिखने की इच्छा श्रीहर्ष को हुई होगी। परंतु यह सब अनुमान-ही-अनुमान है। श्रीहर्ष गौड़ देश को गए हों या न गए हों, एक बात प्रायः निश्चित-सी है। वह यह कि नैषध के कर्ता श्रीहर्ष आदि-शूर के समय में नहीं हुए। वह उसके कोई २०० वर्ष बाद हुए हैं।

यदि यह मान लिया जाय कि गौड़ेश्वर के आश्रय में रहने ही के कारण श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' लिखी, तो यह हो

---

* अर्थात् 'अर्णववर्णन'-नामक काव्य के कर्ता श्रीहर्ष-रचित नैषध-चरित का नवम सर्ग समाप्ति को पहुँचा।

† 'निसर्गोज्ज्वलः' (अत्यंत उज्ज्वल) यह श्रीहर्ष की तीसरी दर्पोक्ति हुई। 'चारुणि' और 'निसर्गोज्ज्वलः' की तो कुछ गिनती ही नहीं; न-जाने कितनी दफ़े इनका प्रयोग आपने किया है।

कैसे सकता है। श्रीहर्ष तो कान्यकुब्ज-नरेश के आश्रय में थे। पर संभव है, गौड़-नरेश की प्रार्थना पर कान्यकुब्ज राजा की आज्ञा से वह वहाँ गए हों। अथवा कान्यकुब्ज राजा के मरने पर निराश्रय हो जाने के कारण वह गौड़ देश को चले गए हों। अथवा गौड़राज और कान्यकुब्जेश्वर में परस्पर मित्रता रही हो। इस दशा में अपने आश्रयदाता के मित्र का वर्णन करना श्रीहर्ष के लिये अनुचित नहीं कहा जा सकता।

नैषध-चरित के अंतिम सर्ग के श्लोक १५१ का उत्तरार्द्ध यह है—

> द्वाविंशो नव (नृप) साहसाङ्कचरिते चम्पूकृतोऽयं महा-
> काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

जिससे ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष ने 'साहसांक-चंपू' भी बनाया है। टीकाकार नारायण पंडित इस श्लोक की टीका में लिखते हैं—

नृपसाहसाङ्केति पाठे नृपश्चासौ साहसाङ्कश्च तस्य गौडेन्द्रस्य चरिते विषये।

जिससे यह सूचित होता है कि साहसांक गौड़ देश का राजा था। डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र ने इस राजा के नाम का उल्लेख अपनी 'इंडू-एरियन'-पुस्तक में कहीं नहीं किया, जिससे नारायण पंडित का कथन पुष्ट नहीं होता। हरिमोहन प्रमाणिक इत्यादि विद्वान् साहसांक को कान्यकुब्ज का राजा बतलाते हैं और उसका होना ६०० ईसवी के लगभग लिखते हैं।

परंतु इस बात का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता।

नव-साहसांक तो पदवी-मात्र जान पड़ती है। नव-साहसांक-चरित-नामक काव्य, जो प्रकाशित हो गया है, चंपू नहीं, किंतु छंदोबद्ध महाकाव्य है। वह परिमल उर्फ़ पद्मगुप्त कवि की रचना है; श्रीहर्ष का बनाया हुआ नव-साहसांक-चरित-चंपू और ही है। नव-साहसांक-चरित में उज्जयिनी के राजा सिंधुराज का वर्णन है—वर्णन क्या है, तद्विषयक एक गप-सी है। उसमें राजा का पातालगमन और नाग-कन्या शशिप्रभा के साथ उसके विवाह इत्यादि की असंभवनीय बातें है। यह राजा परमारवंशीय था। इसके मंत्री का नाम यशोभट था। डॉक्टर बूलर और प्रोफ़ेसर जकरिया ने नव-साहसांक-चरित पर एक उत्तम लेख लिखा है। नव-साहसांक गौड़ देश का नहीं, किंतु मालवे का राजा था। उसका स्थिति-काल ६६५-१०१० ईसवी माना जाता है। इन बातों से सिद्ध है कि नव-साहसांक-चरित से श्रीहर्ष का कोई संबंध नहीं। वह मालवे के राजा सिंधुराज के बाद हुए हैं और क़न्नौज के राजा जयचंद के समय में विद्यमान थे। अतएव उनका स्थिति-काल ईसा की बारहवीं शताब्दी मालूम होता है। मीराँसराय के मिश्र लोगों का श्रीहर्ष को अपना पूर्वज कहना और क़न्नौज के राजा के यहाँ उनका मान पाना इत्यादि बातें इस अनुमान की पुष्टि करती हैं।

अच्छा, अब आदि-शूर राजा के यहाँ श्रीहर्ष नाम के पंडित के जाने की कहानी सुनिए। उसके यहाँ जब श्रीहर्ष पहुँचे हैं, तब जैसे इनके साथ गए हुए और-और पंडितों ने अपना-अपना परिचय दिया, वैसे ही इन्होंने भी दिया। इनका परिचायक श्लोक रहस्य-संदर्भ-नामक ग्रंथ से हम नीचे उद्धृत करते हैं—

नाम्नाहं श्रीलहर्षः क्षितिपवर ! भरद्वाजगोत्रः पवित्रो
नित्यं गोविन्दपादाम्बुजयुगहृदयः सर्वतीर्थावगाही ;
चत्वारः सांगवेदा मम मुखपुरतः पश्य पाणौ धनुर्मे
सर्वं कर्तुं क्षमोऽस्मि प्रकटय नृपते ! त्वन्मनोऽभीष्टमाशु।

कलकत्ता-निवासी श्रीयुत रघुनाथ वेदांतवागीश ने स्वरचित श्रीकृष्णककारादि-नामक भाष्य की भूमिका में अपने को श्रीहर्ष का वंशज बताया है और श्रीहर्ष की स्तुति में एक श्लोक भी दिया है। यथा—

वेदान्तसिद्धान्तसुनिश्चयार्थो दीक्षाक्षमादानदयार्द्रचित्तः ;
परात्मविद्यार्णवकर्णधारः श्रीहर्षनामा भुवनं तुतोष।

इन दो श्लोकों को देखने से जान पड़ता है कि यह श्रीहर्षजी वेदांत-विद्या में परम निष्णात थे, तथा दर्शन-शास्त्र के भी उत्कृष्ट वेत्ता थे। पर यह श्रीहर्ष नैषध-चरित के कर्ता श्रीहर्ष नहीं हो सकते। जो श्रीहर्ष आदि-शूर के यहाँ गए थे, वह भारद्वाज गोत्र के थे। नैषध-चरित के कर्ता तो उस समय पैदा ही न हुए थे। फिर यदि मीरासराय के मिश्रों का कथन माना जाय, तो उनके पूर्वज

श्रीहर्ष का गोत्र शांडिल्य था। एक बात और भी है। आदि-शूर के श्रीहर्ष "गोविंदपादांबुजयुग"-सेवी अर्थात् वैष्णव थे; परंतु नैषध-चरितवाले श्रीहर्ष 'चिंतामणिमंत्र' की चिंतना करनेवाले थे। यह मंत्र भगवती का है। अतएव नैषध-चरित के प्रणेता श्रीहर्ष शाक्त मालूम होते हैं।

---

(४)

श्रीहर्ष का समयादि-निरूपण

यहाँ तक श्रीहर्ष के विषय में आनुमानिक बातों का उल्लेख हुआ। अब उनके समय आदि के निरूपण से संबंध रखनेवाली कुछ विशेष बातें लिखी जाती हैं। राजशेखर सूरि नाम का एक जैन कवि हो गया है। उसका स्थिति-काल विक्रम-संवत् १४०५ (१३४८ ईसवी) के आस-पास माना जाता है। उसका बनाया हुआ एक ग्रंथ प्रबंधकोश-नामक है। उसमें उसने लिखा है कि श्रीहीर के पुत्र श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज-नरेश गोविंदचंद्र के पुत्र जयंत-चंद्र की आज्ञा से नैषध-चरित बनाया। यदि यह बात सच है, तो श्रीहर्ष का जयचंद ही के आश्रय में रहना सिद्ध है। जयचंद और मुहम्मद गोरी का युद्ध ११९५ ईसवी में हुआ था। अतएव श्रीहर्ष ईसा की बारहवीं सदी के अंत में अवश्य ही विद्यमान थे।

इंडियन ऐंटिकेरी (१५-१११२) में राजा जयचंद का जो दान-पत्र छपा है, उसमें—

त्रिचत्वारिंशद धिकद्वादशशतसंवत्सरे आषाढे मासि शुक्लपक्षे सप्तम्यां तिथौ रविदिने अंकतोऽपि संवत् १२४३ आसाढ-सुदि७ रवौ—

इस प्रकार संवत १२४३ स्पष्ट लिखा है। यह दानपत्र प्राचीन

लेख-माला के प्रथम भाग में भी छपा है। इंडियन ऍंटिकेरी (१५-७८८) में जयचंद का एक और भी दानपत्र छपा है। यह उस समय का है, जब जयचंद युवराज थे। इसमें १२२५ संवत् दिया हुआ है।

राजशेखर सूरि ने जयंतचंद्र को (इसी को जयचंद्र भी कहते थे) गोविंदचंद्र का पुत्र कहा है। परंतु यह ठीक नहीं। जयचंद के पिता का नाम विजयचंद्र था और विजयचंद्र के पिता का गोविंदचंद्र था। यह बात उन दो दानपत्रों से सिद्ध है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दानपत्र में जयचंद की वंशावलि इस प्रकार लिखी है—

यशोविग्रह, महीचंद्र, चंद्रदेव, मदनपाल, गोविंदचंद्र, विजयचंद्र, जयचंद्र।

पीछे के तीन राजाओं के पिता-पुत्र-संबंध सूचक पद्य भी, राजा जयचंद के दानपत्र से, हम नीचे उद्धृत करते हैं—

तस्मादजायत निजायतबाहुवल्ली-

बन्धावरुद्धनवराज्यगजो नरेन्द्रः।

सान्द्रामृतद्रवमुचां प्रभवो गवां यो

गोविन्दचन्द्र इति चन्द्र इवाम्बुराशेः॥ १॥

अजनि विजयचन्द्रो नाम तस्मान्नरेन्द्रः

सुरपतिरिव भूभृत्पक्षविच्छेददक्षः।

भुवनदहनहेलाहर्म्यहम्मीरनारी-

नयनजलदधाराधौतभूलोकतापः॥ २॥

तस्मादद्भुतविक्रमादथ जयचन्द्राभिधानः पति-
भूपानामवतीर्ण एष भुवनोद्धाराय नारायणः।
द्वैधीभावमपास्य विग्रहरुचिं धिक्कृत्य शान्ताशयाः
सेवन्ते यमुदग्रबन्धनभयध्वंसार्थिनः पार्थिवाः॥ २ ॥

राजशेखर सूरि ने १३४८ ईसवी में प्रबंधकोश-नामक ग्रंथ लिखा है। उसमें उसने श्रीहीर, श्रीहर्ष और जयचंद इत्यादि के विषय में जो कुछ कहा है, वह संक्षेपतः यह है—

काशी में गोविंदचंद्र नाम का एक राजा था। उसके पुत्र का नाम जयचंद्र था। (दानपत्रों के अनुसार गोविंदचंद्र का पुत्र विजयचंद्र और विजयचंद्र का पुत्र जयचंद्र था) उसको, अर्थात् जयचंद्र की, सभा में हीर नाम का एक विद्वान् था। उसको सभा में, राजा के सम्मुख, एक दूसरे विद्वान् ने—उदयनाचार्य ने—शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। हीर जब मरने लगा, तब उसने अपने पुत्र श्रीहर्ष से कहा कि यदि तू सत्पुत्र है, तो जिस पंडित ने मुझे परास्त किया है, उसे तू राजा के सम्मुख अवश्य परास्त करना। श्रीहर्ष ने कहा—'बहुत अच्छा'।

पिता के मरने पर श्रीहर्ष ने देश-देशांतरों में जाकर तर्क, व्याकरण, वेदांत, गणित, ज्योतिष, अलंकार इत्यादि अनेक शास्त्र पढ़े। फिर गंगा-तट पर एक वर्ष-पर्यंत चिंतामणि-मंत्र की साधना करके उन्होंने भगवती त्रिपुरा से वर प्राप्त किया। इस वर के प्रभाव से श्रीहर्ष की वाणी में ऐसी अलौकिक

शक्ति प्रादुर्भूत हुई कि जिस सभा में वह जाते, कोई उनकी बात ही न समझ सकता। अतः श्रीहर्ष ने पुनः त्रिपुरा को प्रत्यक्ष करके उनसे प्रार्थना की कि ऐसा कीजिए, जिसमें सब कोई मेरी बात समझ सकें। इस पर देवी ने कहा—"आधी रात के समय, भीगे सिर, दही खाकर शयन कर। कफांश के उतरने से तेरी बुद्धि में कुछ जड़ता आ जायगी।" श्रीहर्ष ने ऐसा ही किया। तब से उनकी बातें लोगों की समझ में आने लगीं।

इस प्रकार, वर-प्राप्ति के अनंतर, काशी में राजा जयचंद्र से श्रीहर्ष मिले। उन्होंने उसे अपनी विद्वत्ता से बहुत प्रसन्न किया। राजा के सम्मुख उपस्थित होने पर श्रीहर्ष ने यह श्लोक पढ़ा—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
माऽस्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः;
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः।

भावार्थ—हे तरुणी-गण! गोविंदनंदन (गोविंदचंद्र का लड़का जयचंद्र तथा गोविंद [कृष्ण] का लड़का प्रद्युम्न अर्थात् काम,) तथा अत्यंत रूपवान् होने के कारण इस राजा को तुम लोग कहीं काम न समझ लेना। इस जगत् को जीतने में काम स्त्री को अस्त्री (पुरुष तथा अस्त्रधारी) कर देता है, अर्थात् स्त्रियों ही को अस्त्र-रूप करके जगत् जीत लेता है; परंतु

यह राजा अस्त्री (पुरुष तथा अस्त्रधारी) को स्त्री बना देता है। शस्त्रधारी पुरुष, इसके सम्मुख स्त्रीवत् अपने प्राण बचाते हैं। यह श्लोक बहुतही अच्छा है। इसमें 'गोविंदनंदन' और 'अस्त्री' शब्द द्वयर्थिक हैं। दान-पत्रों में गोविंदचंद्र के पुत्र का नाम विजयचंद्र लिखा है। अतएव यह पद्य विजयचंद्र के लिये श्रीहर्ष ने कहा होगा। संभव है, यह 'विजय-प्रशस्ति' का हो। क्योंकि श्रीहर्ष ने इस नाम का एक ग्रंथ बनाया है। नैषध-चरित के पाँचवें सर्ग के अंत में श्रीहर्ष ने कहा है—

तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचना तातस्य नव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः।

जयचंद्र के आश्रय में रहकर उसके पिता की प्रशस्ति लिखना श्रीहर्ष के लिये स्वाभाविक बात है। राजशेखर ने श्रीहर्ष के डेढ़-दो सौ वर्ष पीछे प्रबंधकोष लिखा है। अतः नामों में गड़-बड़ होना संभव है। यह भी संभव है कि श्रीहर्ष विजयचंद्र के समय कान्यकुब्जेश्वर के दरबार में पहलेपहल गए हों, और उसके मरने पर जयचंद्र के आश्रय में रहे हों।

श्रीहर्ष के अपूर्व पांडित्य को देखकर उनके पिता का पराजय करनेवाले पंडित ने भी—देव! वादींद्र! भारतीसिद्ध! इत्यादि संबोधन-पूर्वक—श्रीहर्ष के सम्मुख यह स्वीकार किया कि उनके बराबर दूसरा विद्वान् नहीं।

कुछ काल के अनंतर जयचंद्र ने श्रीहर्ष से कहा कि तुम कोई प्रबंध लिखो। इस पर श्रीहर्ष ने नैषध-चरित की रचना

करके उसे राजा को दिखाया। राजा ने उसे बहुत पसंद किया, और श्रीहर्ष से कहा कि तुम काश्मीर जाकर इसे वहाँ की राज-सभा के पंडितों को दिखा लाओ। श्रीहर्ष काश्मीर गए। पर वहाँ उनकी दाल न गली। वहाँ के ईर्ष्यालु पंडितों ने उनकी एक न सुनी। एक दिन श्रीहर्ष एक देवालय में पूजा कर रहे थे। पास ही तालाब था। इतने में नीच जाति की दो स्त्रियाँ वहाँ पानी भरने आईं। उनमें परस्पर मार-पीट हो गई। खून तक निकला। इसकी फ़रियाद राजा के दरबार में हुई। राजा ने साक्षी माँगे। मार-पीट के समय वहाँ पर श्रीहर्ष के सिवा और कोई न था। अतएव वही गवाह बदे गए। श्रीहर्ष ने, बुलाए जाने पर, कहा कि मैं इन स्त्रियों की भाषा नहीं समझता। पर जो शब्द इन्होंने उस समय कहे थे, मुझे याद हैं। उन शब्दों को श्रीहर्ष ने ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। उनकी ऐसी अद्भुत धारणा-शक्ति देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने इनसे इनका हाल पूछा। इनके पांडित्य और कवित्व की उसने परीक्षा भी ली। इनका नैषध-चरित भी देखा। फल यह हुआ कि इनका बहुत सत्कार उसने किया, और अपनी सभा के ईर्ष्यालु पंडितों को बहुत धिक्कारा। राजा ने तथा उसके आश्रित पंडितों ने भी नैषध-चरित के सत्काव्य होने का सरटीफ़िकट श्रीहर्ष को दे दिया।

जिस समय श्रीहर्ष काश्मीर गए, उस समय के काश्मीर-नरेश का नाम राजशेखर ने माधवदेव लिखा है। परंतु राज-तरंगिणी में इस नाम के राजा का उल्लेख नहीं।

श्रीहर्ष काशी लौट आए, और जयचंद्र से उन्होंने सब हाल कहा। राजा बहुत प्रसन्न हुआ।

वीरधवल-नामक राजा के समय में हरिहर-नामक पंडित नैषध की एक प्रति गुजरात को ले गया। उस पुस्तक से राजा वीरधवल के मंत्री वस्तुपाल ने एक दूसरी प्रति लिखवाई। राजशेखर ने लिखा है कि हरिहर श्रीहर्ष के वंशज थे और वे गौड़ थे। अतः श्रीहर्ष भी गौड़ ही हुए। संभव है, इसी से श्रीहर्ष ने गौड़-देश के राजा की प्रशंसा में 'गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति'-नामक ग्रंथ बनाया हो।

राजशेखर ने लिखा है कि जयचंद्र की रानी सूहलदेवी बड़ी विदुषी थी। वह कलाभारती नाम से प्रसिद्ध थी। श्रीहर्ष भी नरभारती कहलाते थे। यह बात रानी को सहन न होती थी। वह श्रीहर्ष से मत्सर रखती और कुचेष्टाएँ किया करती थी। इसीलिये, खिन्न होकर, गंगा-तट पर श्रीहर्ष ने संन्यास ले लिया।

श्रीहर्ष ने अपने लिये कान्यकुब्जेश्वर के यहाँ आसन पाना लिखा है, और राजशेखर ने (श्रीहर्ष के डेढ़ ही सौ वर्ष पीछे) उनको जयचंद्र का आश्रित बतलाया है। अतः यह बात निर्भ्रम-सी है कि श्रीहर्ष जयचंद्र ही के समय, अर्थात् ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, विद्यमान थे।

अहमदाबाद के निकट धौलका में चांडु नाम का एक विद्वान् हो गया है। उसने १२९६ ईसवी में नैषध-दीपिका-नामक नैषध-

चरित की टीका बनाई। इस टीका में उसने भी लिखा है कि श्रीहर्ष ने अपने पिता के जीतनेवाले उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ में परास्त किया। इसलिये इससे भी राजशेखर के कथन की पुष्टि होती है। चांडु ने अपनी टीका में नैषध-चरित को 'नवीन काव्य' लिखा है, और यह भी लिखा है कि उस समय तक नैषध-चरित की विद्याधरी-नामक केवल एक ही टीका उपलब्ध थी। पर इस समय इस काव्य की तेईस तक टीकाएँ देखी गई हैं।

प्रबंधकोष में लिखा है कि जयचंद्र के प्रधान मंत्री ने ११७४ ईसवी में सोमनाथ की यात्रा की। इस यात्रा-वर्णन के पहले ही श्रीहर्ष का काश्मीर जाना वर्णन किया गया है। नैषध-चरित लिखने के अनंतर श्रीहर्ष काश्मीर गए थे। अतः उन्होंने ११७४ ईसवी के कुछ दिन पहले ही नैषध की रचना की होगी।

श्रीहर्ष ने नैषध के प्रति सर्ग के अंत में अपने माता-पिता के नाम का पिष्ट-पेषण किया है; परंतु किसी सर्ग के अंत में अपना समय तथा जन्मभूमि और जिस राजा के यहाँ आप रहे, उसका नाम आदि लिख देने की कृपा नहीं की। तथापि प्रबंधकोष के अनुसार यह प्रायः सिद्ध-सा है कि वह राजा जयचंद के आश्रय में थे।

गोविंद-नंदनतया—आदि श्लोक से यह भी सूचित होता है कि वह जयचंद्र के पिता ही के समय में कान्यकुब्ज की राजधानी में पहुँच गए थे।

---

(५)

श्रीहर्ष के ग्रंथ

नैषध-चरित के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने और जो-जो ग्रंथ बनाए हैं, उनका नाम उन्होंने नैषध के किसी-किसी सर्ग के अंतिम श्लोकों में दिया है। श्रीहर्ष ही के कथनानुसार उनके ९ ग्रंथ हैं; यथा—

१. नैषध-चरित
२. गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति
३. अर्णव-वर्णन
४. स्थैर्य विचार
५. विजय-प्रशस्ति
६. खंडनखंड-खाद्य
७. छंदःप्रशस्ति
८. शिवशक्तिसिद्धि
९. नवसाहसांक-चरित

इनमें से नैषध-चरित के विषय में प्रमाण देने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं। द्वितीय, तृतीय और नवम ग्रंथ के विषय में नैषध के श्लोक हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। शेष पाँच ग्रंथों के परिचायक श्लोकार्द्ध नीचे दिए जाते हैं—

(४) तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

(५) तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचना तातस्य नव्ये महा-

काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः ।

(६) षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-

काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ।

(७) यातः सप्तदशः स्वसुः सुलहशि च्छन्दःप्रशस्तेर्महा-

काव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ।

(८) यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनी सौभ्रात्रभव्ये महा-

काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमष्टादशः ।

नैषध-चरित और खंडनखंड-खाद्य, श्रीहर्ष के ये ही दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। खंडनखंड-खाद्य श्रीहर्ष के अगाध पांडित्य और नैषध-चरित उनके अप्रतिम कवित्व का द्योतक है। खंडन-खंड-खाद्य (खंडनरूपी खंड शर्करा का भोजन) में अन्यान्य मतों का अद्भुत रीति से खंडन करके, एकमात्र वेदांत-मत का मंडन किया गया है*। स्थैर्य विचार में, नहीं कह सकते, क्या है; परंतु अन्यान्य ग्रंथों के नाम ही से उनके विषय का बहुत कुछ अनुमान हो सकता है। गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति में गौड़ेश्वर की प्रशंसा; विजय-प्रशस्ति में विजय-नामक राजा की प्रशंसा; और छंदःप्रशस्ति में छंद-नामक राजा की प्रशंसा होगी। विजय-प्रशस्ति के विषय में तो टीका-कार मल्लिनाथ कुछ नहीं कहते; परंतु छंदःप्रशस्ति के विषय

* स्मरण होता है कि महामहोपाध्याय डॉक्टर गंगानाथ झा ने, कुछ समय हुआ, खंडनखंड-खाद्य का अनुवाद अँगरेज़ी में करके उसे प्रकाशित किया है।

में स्पष्ट कहते हैं कि वह छंद-नामक राजा की स्तुति है। छंद कहाँ का राजा था, इसका पता नहीं लगता। विजय से मतलब विजयचंद्र से जान पड़ता है। वह महाराज जयचंद का पिता था। अर्णव-वर्णन में समुद्र-वर्णन और नवसाहसांक-चरित में साहसांक राजा का वर्णन होगा, इसमें संदेह नहीं। शिवशक्ति-सिद्धि में शाक्त अथवा शैवमत की कोई बात अवश्य होगी। यदि यह ग्रंथ शाक्त-मतानुयायी है, जैसा कि इसके नाम से विदित होता है, तो इसको लिखने से श्रीहर्ष का शाक्तमत की ओर अनुराग होना सूचित होता है।

---

(६)

चिंतामणि-मंत्र की सिद्धि

सुनते हैं, श्रीहर्षजी परम मातृभक्त थे। अपनी माता को वह देवी के समान समझते थे। नैषध-चरित के बारहवें सर्ग के इस—

तस्य द्वादश एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अंतिम श्लोकार्द्ध में श्रीहर्षजी अपनी माता के चरण-कमल में, मधुप के समान, अपना मस्तक रखना स्वयं भी स्वीकार करते हैं। किसी-किसी का कथन है कि माता ही के उपदेश से इन्होंने 'चिंतामणि-मंत्र' सिद्ध करके अद्भुत कवित्व-शक्ति प्राप्त की थी। नैषध के प्रथम सर्ग का अंतिम श्लोक, जो हम पहले एक स्थल में उद्धृत कर आए हैं, उसमें श्रीहर्ष ने अपने ही मुख से यह कहा है कि चिंतामणि-मंत्र ही के प्रभाव से वह यह काव्य लिखने में समर्थ हुए हैं। पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी एक प्रबंध में लिखा है कि लोग कहते हैं, श्रीहर्ष ने देवाराधना करके अप्रतिम कवित्व-शक्ति पाई थी। चिंतामणि-मंत्र का स्वरूप और उसका फल श्रीहर्षजी ने नैषध-चरित में विशेष रूप से दिया भी है। देखिए—

अवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ;
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मर हरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते ! सिध्यतु स ते ।
(सर्ग १४, श्लोक ८९)

इस श्लोक से प्रथम मंत्रमूर्ति भगवान् अर्द्धनारीश्वर की उपासना का अर्थ निकलता है ; फिर, ह्ल्लेखात्मक चिंतामणि-मंत्र सिद्ध होता है ; तदनंतर चिंतामणि-मंत्र के यंत्र का स्वरूप भी इसी से व्यक्त होता है । चिंतामणि-मंत्र का रूप यह है—

ॐ ह्रीं ॐ

"द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं"—से यंत्र का आकार सूचित किया गया है । भगवत् दो त्रिकोणाकृतियों का मेल ही यंत्र है ; यथा—
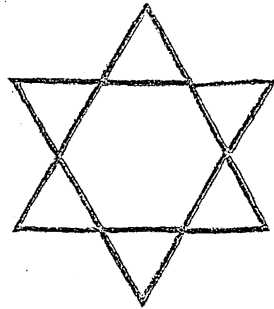
इसी के भीतर चिंतामणि-मंत्र लिखा जाता है । पारमेश्वर, मंत्रमहोदधि, शारदातिलक आदि तंत्रों में इसकी साधना का

सविस्तर वर्णन है। चिंतामणि-मंत्र का फल सरस्वती के मुख से श्रीहर्ष जी ने इस प्रकार कहाया है—

सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते ;
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति, किं भूयसा ?
येनायं हृदये कृतः सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणिः ।
(सर्ग १४, श्लोक ८६)

भावार्थ—जो पुण्यवान् पुरुष मेरे इस चिंतामणि-मंत्र को हृदय में धारण करता है, वह शृंगारादि समस्त रसों से परिप्लुत अत्यंत सरस, वाग्वैदग्ध्य को प्राप्तकरके बृहस्पति के समान विद्वान् हो जाता है ; वह स्वर्गीय सुंदरी जनों को भी वश करने के लिये कामवत् सौंदर्यवान् दिखाई देने लगता है। अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं ; जिस वस्तु की जिस समय वह इच्छा करता है, उसके मिलने में किंचिन्मात्र भी देरी नहीं लगती।

इसी के आगे जो दूसरा श्लोक है, वह भी देखिए—

पुष्पैरभ्यर्च्य गंधादिभिरपि सुभगैश्चारुहंसेन मां चे-
न्निर्यान्तीं मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मय्येव भक्तः ;
सम्प्राप्ते वत्सरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते
सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुकं दृश्यमस्य ।
(सर्ग १४, श्लोक ८७)

भावार्थ—सुंदर हंस के ऊपर गमन करनेवाली मंत्रमूर्ति मेरा पूजन, उत्तमोत्तम पुष्प-गंधादि से, करके और अच्छी

तरह मुझमें मन लगाकर जो मनुष्य मेरे मंत्र का जप करता है, उसकी तो कोई बात ही नहीं ; एक वर्ष के अनंतर वह और जिस किसी के ऊपर अपना हाथ रख देता है, वह भी सहसा सैकड़ों हृदयहारी श्लोक बनाने लगता है। मेरे इस मंत्र का कौतुक देखने योग्य है।

चतुर्दश सर्ग में नल को सरस्वती ने जिस समय वर-प्रदान किया है, उस समय के ये तीनो श्लोक हैं। श्रीहर्ष ने सरस्वती ही के मुख से ये श्लोक कहलाए हैं।

इस मंत्र की साधना से सचमुच ही इतनी सिद्धि प्राप्त होती है, इसके उदाहरण वर्तमान समय में तो सुनने में नहीं आए। पर श्रीहर्ष की बात पर सहसा अविश्वास करने को भी जी नहीं चाहता। हम एक ऐसे आदमी को जानते हैं, जिसकी जीभ पर, जात-कर्म-संस्कार के समय, सरस्वती का पूर्वोक्त मंत्र (ॐ ह्रीं ॐ) लिख दिया गया था। यह मनुष्य कुछ पढ़-लिख भी गया, और कुछ कीर्ति-संपादन भी उसने किया। पर यह इसी मंत्र का प्रभाव था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। संभव है, यथाशास्त्र और यथारीति इसकी उपासना करने से विशेष फल होता हो।

परंतु, आश्चर्य है, इसी चिंतामणि-मंत्र की उपासना करने पर भी हमारे एक मित्र को कुछ भी लाभ न हुआ। वह ग्वालियर में रहते हैं और रामानुज-संप्रदाय के वैष्णव हैं। आप बड़े पंडित और बड़े तांत्रिक हैं।

आजकल का शिक्षित-समुदाय यंत्र-मंत्र की बातों को कुटिल दृष्टि से देखता है, और पुरानी प्रथा के पंडित यंत्र-मंत्रों की समालोचना करना बुरा समझते हैं। तथापि हमको यहाँ पर प्रसंगवशात् इस विषय में कुछ लिखना ही पड़ा। अतः हम दोनो प्रकार के विद्वानों से क्षमा माँगते हैं।

---

(७)

श्रीहर्ष की गर्वोक्तियाँ

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता और कविता का अतिशय गर्व था। उनकी कई एक दर्पोक्तियाँ हम ऊपर लिख भी चुके हैं। नैषध के अंतिम श्लोक में आप अपने विषय में क्या कहते हैं, सो सुनिए—

ताम्बूलद्वयमासनञ्च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्;
यत्काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।

(सर्ग २२, श्लोक १५५)

अर्थात् कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ जिसे दो पान—और पान ही नहीं, किंतु आसन भी जिसे मिलता है; समाधिस्थ होकर जो अनिर्वचनीय ब्रह्मा नंद का साक्षात्कार करता है; जिसका काव्य शहद के समान मीठा होता है; जिसकी तर्कशास्त्र-संबंधिनी उक्तियों को सुनकर प्रतिपक्षी तार्किक परास्त होकर कोसों भागते हैं—उस श्रीहर्ष-नामक कवि की यह कृति (नैषध-चरित) पुण्यवान् पुरुषों को प्रमोद देनेवाली हो।

देखा, आप पंडित जगन्नाथराय से भी बढ़कर निकले।

जगन्नाथराय ने कहा है कि सुमेरु से लेकर कन्याकुमारी तक मेरे बराबर अच्छी कविता करनेवाला दूसरा नहीं है। परंतु श्रीहर्ष केवल कविता ही से अमृत नहीं बरसाते, किंतु सारे शास्त्रों में अपने धुरीणत्व का उल्लेख करते हैं। इनके खंडन-खंड-खाद्य और नैषध-चरित से, टीकाकार नारायण पंडित के कथनानुसार, इनका 'विद्वच्चक्रचूडामणि' होना सिद्ध है, यह हम मानते हैं। परंतु क्या मुख से कहने ही से पांडित्य प्रकट होता है? कालिदास ने रघुवंश में लिखा है—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्;
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।

इस शालीनता-सूचक पद्य से क्या उन्होंने अपना पांडित्य कम कर दिया? कदापि नहीं। इस प्रकार नम्रता-व्यंजक वाक्य कहने से विद्या की और भी विशेष शोभा होती है। किसी ने कहा है—

शीलभास्वती विद्या भजते कामपि श्रियम्;

परंतु कुछ कवियों और पंडितों ने अपनी प्रशंसा अपने ही मुँह से करने में ज़रा भी संकोच नहीं किया। भारत-चंपू के बनानेवाले अनंत-नामक कवि ने—

दिगन्तरलुठत्कीर्तिरनन्तकविकुञ्जरः।

इत्यादि वाक्य कहकर अपने को अपने ही मुख से कविकुंजर ठहराया है। श्रीहर्ष की बात तो कुछ पूछिए ही नहीं। आपनी कविता के विषय में 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु',

'नव्य', 'अतिनव्य' इत्यादि पद-प्रयोग कर देना तो उनके लिये साधारण बात है। उन्होंने तो काश्मीर तक के पंडितों से नैषध की पूजा को जाने का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कई सर्गों के अंत में आपने अपने कवित्व की और भी मनमानी प्रशंसा की है। देखिए—

> तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीन्महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिसने केवल कविता ही में नहीं, किंतु तर्कशास्त्र में भी बड़ा परिश्रम किया है, उसके नैषध-चरित का दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ। आगे चलिए—

> श्रृंगारामृतशीतगावयमगादेकादशस्तन्महा-
> काव्येऽस्मिन् निषधेश्वरस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् श्रृंगाररूपी अमृत से उत्पन्न हुए चंद्रमा के समान उज्ज्वल और आह्लादकारक, मेरे नैषध-चरित के एकादश सर्ग का अंत हुआ। और लीजिए—

> स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तदीये महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् अतिशय स्वादिष्ठ अर्थों को उत्पन्न करनेवाले नैषध-चरित के त्रयोदश सर्ग की समाप्ति हुई। और—

> यातस्तस्य चतुर्दशः शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेर्महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् शरत्कालीन चंद्रमा की चंद्रिका के समान उज्ज्वल

उक्तियाँ जिसमें हैं; ऐसे नैषध-चरित का चतुर्दश सर्ग समाप्त हो गया। और भी—

यातःपञ्चदशः कृशेतररसास्वादाविहार्यं महा-
काव्ये तस्य हि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् अत्यंत सरस और अत्यंत स्वादिष्ठ नैषध-चरित का पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ। और भी सुनिए—

एकां न त्यजतो नवार्थघटनामेकोनविंशो महा-
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिसने एक भी नवीनार्थ-घटना को नहीं छोड़ा, उसके किए हुए नल-चरित का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्ति को पहुँचा। बस, एक और—

अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये महा-
काव्येऽयं व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः।

अर्थात् जिस रसमयी उक्तियों का आज तक और किसी ने व्यवहार नहीं किया, वे जिसमें समाविष्ट हैं, ऐसे नैषध-चरित का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

कहिए, क्या इससे भी अधिक आत्मश्लाघा हो सकती है? आत्मश्लाघा की मात्रा इन्होंने बहुत ही बढ़ा दी है। नैषध की परिसमाप्ति में आपने अपने को अमृतादि चौदह रत्न उत्पन्न करनेवाला क्षीर-सागर बताया है; और शेष सब कवियों को दो ही चार दिन में सूख जानेवाली नदियों को उत्पन्न करनेवाले पहाड़ी पत्थर! श्रीहर्ष का जब यह हाल है, तब पंडित अंबिकादत्त

व्यास अपने 'विहारी-विहार' में स्वप्रशंसात्मक यदि दो-एक बातें किसी मिष कह दें, तो विशेष आक्षेप की बात नहीं। श्रीहर्ष का ाण्डित्य और कवित्व निःसंशय प्रशंसनीय है। परतु इन्होंने अपने विषय में जितनी गर्वोक्तियाँ कही हैं, उतनी, जहाँ तक हम जानते हैं, दो-एक को छोड़कर और किसी ने नहीं कहीं।

---

(८)

नैषध-चरित का कथानक

नैषध-चरित में नल और दमयंती की कथा है, इस बात को प्रायः सभी जानते हैं। तथापि किसी-किसी की यह समझ है कि इस काव्य में दमयंती का वन में परित्याग भी वर्णन किया गया है। यह केवल भ्रम है। परित्याग-विषयक कोई बात इसमें नहीं। उस विषय के कवित्व का जिसे स्वाद लेना हो, उसे सहृदयानंद-नामक काव्य देखना चाहिए। नैषध की कथा संक्षेपतः इस प्रकार है—

विदर्भ-देश के राजा भीम के एक कन्या थी। उसका नाम था दमयंती। अपने पिता को देश-देशांतर के समाचार सुनाने-वाले ब्राह्मणों के मुख से राजा नल की प्रशंसा सुनकर वह उसमें अनुरक्त हो गई। इधर लोगों से दमयंती का अप्रतिम सौंदर्य सुनकर राजा नल को भी उसकी प्राप्ति की अभिलाषा हुई। दमयंती में नल की आसक्ति इतनी बढ़ी और उसे दिन-पर-दिन इतनी व्याकुलता होने लगी कि राजकार्य में विघ्न पड़ने लगा। अतः 'आराम-विहार' के बहाने राजा नल कुछ काल के लिये बाहर चले गए। वहाँ उपवन में, एक तड़ाग के किनारे, एक सुवर्णमय हंस उन्होंने देखा। इस लोकोत्तर हंस को राजा ने

कुतूहलाक्रांत होकर पकड़ लिया। पकड़ लेने पर हंस ने अतिशय विलाप किया, और राजा से ऐसी-ऐसी कारुणिक बातें कहीं कि उसने दयार्द्र होकर हंस को छोड़ दिया। छोड़े जाने के अनंतर इस उपकार का प्रत्युपकार करने के लिये हंस ने दमयंती के पास जाकर दूतत्व करना और उसमें नल का और भी अधिक प्रेम जाग्रत् करके नल को दमयंती की प्राप्ति होने में सहायता करना स्वीकार किया। हंस ने ऐसा ही किया। विदर्भ-देश को जाकर, वहाँ दमयंती से नल का वृत्तांत कहकर, उसको हंस ने इतना उत्कंठित किया कि नल को विना देखे ही दमयंती को इतनी विरह-वेदना होने लगी कि उस वेदना से व्यथित होकर उसने चंद्रमा और काम को हजारों गालियाँ सुनाईं। फिर अनेक प्रलाप करते-करते वह मूर्च्छित हो गई। सुता की मूर्च्छा का वृत्तांत जानने पर उसके पिता राजा भीम उसके पास दौड़े आए, और अनुमान से सब बातें जानकर शीघ्र ही उसके स्वयंवर का प्रबंध करना उन्होंने निश्चित किया। इतनी कथा ४ सर्गों में वर्णन की गई है।

दमयंती के सौंदर्यादि का वर्णन नारद ने इंद्र से जाकर किया और उसके स्वयंवर का समाचार भी सुनाया। इस बात को सुनकर इंद्र, वरुण, यम और अग्नि इन चारों देवतों के हृदयों में दमयंती की प्राप्ति की अतिशय उत्कंठा उत्पन्न हुई। दमयंती को पाने की अभिलाषा से उधर से ये चारों स्वयंवर देखने के लिये चले; इधर से नल ने भी इसी निमित्त

प्रस्थान किया। मार्ग में इनकी परस्पर भेंट हुई। देवतों को यह विदित ही था कि दमयंती नल को चाहती है। अतएव वे यह अच्छी तरह जानते थे कि नल के स्वयंवर में उपस्थित रहते दमयंती उन्हें कदापि नहीं मिल सकती। इसलिये इन देवतों ने चतुराई करके नल को अपना दूत बनाकर दमयंती के पास भेजना चाहा। नल यद्यपि दमयंती को स्वयं ही मनसा, वाचा, कर्मणा चाहते थे, तथापि देवतों की इच्छा के प्रतिकूल उन्होंने कोई बात करनी उचित न समझी। उनकी प्रार्थना को नल ने स्वीकार कर लिया। देवतों ने नल को अदृश्य होने की एक ऐसी विद्या पढ़ा दी, जिसके प्रभाव से वह दमयंती के अंतःपुर तक अदृष्ट प्रवेश कर गए। वहाँ इंद्र की भेजी हुई दूती के दूतत्व करके चले जाने पर नल ने बड़े चातुर्य से अनेक प्रकार से देवतों की प्रशंसा करके दमयंती का प्रलोभन किया। उन्होंने भय भी दिखाया। परंतु नल को छोड़कर अन्य के साथ विवाह करना दमयंती ने स्वीकार न किया। नल की प्राप्ति न होने से उलटा प्राण दे देने का प्रण उसने किया। तदनंतर नल ने अपने को प्रकट किए बिना ही दमयंती को समझाया कि देवतों की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह नल से किसी तरह संभव नहीं। इसको दमयंती ने सत्य माना और नल की प्राप्ति से निराश होकर ऐसा हृदयद्रावक विलाप करना आरंभ किया कि नल के होश उड़ गए। वह अपना दूतत्व भूल गए और प्रत्यक्ष नलभाव को प्रकाशित

करके स्वयं विलाप करने लगे। इस पर दमयंती ने नल को पहचाना। देवतों को भी इसकी यथार्थता विदित हो गई। परंतु अप्रसन्न होना तो दूर रहा, राजा की दृढ़ता और स्थिरप्रतिज्ञता को देखकर वे चारो दिक्पाल उलटा उस पर बहुत संतुष्ट हुए। यहाँ तक की कथा नैषध-चरित के नौ सर्गों में वर्णन की गई है।

दशम से प्रारंभ करके चतुर्दश सर्ग तक दमयंती के स्वयंवर का वर्णन है। दमयंती के पिता राजा भीम की प्रार्थना पर उसके कुल-देवता विष्णु ने सरस्वती को राजों का वंश, यश इत्यादि वर्णन करने के लिये भेजा। सरस्वती ने अद्भुत वर्णन किया। जितने देवता, जितने लोकपाल, जितने द्वीपाधिपति और जितने राजे स्वयंवर में आए थे, सरस्वती ने उन सबकी पृथक्-पृथक् नामादि निर्देश-पूर्वक प्रशंसा की। इस स्वयंवर में उन चार—इंद्र, वरुण, यम और अग्नि—देवतों ने दमयंती को छलने के लिये एक माया रची। उन्होंने नल ही का रूप धारण किया और जहाँ नल बैठे थे, वहीं जाकर वे भी बैठ गए। अतएव एक स्थान पर एक ही रूपवाले पाँच नल हो गए। इन पाँच नलों की कथा जिस सर्ग (तेरहवें) में है, उसको पंडित लोग पंचनली कहते हैं। श्रीहर्ष ने इस पंचनली का वर्णन सरस्वती के मुख से बड़ा ही अद्भुत कराया है। उन्होंने अपूर्व श्लेषचातुरी इस वर्णन में व्यक्त की है। प्रायः पूरा सर्ग-का-सर्ग श्लेषमय है। प्रति श्लोक से एक-एक

देवता का भी अर्थ निकलता है और नल का भी। इस वर्णन-वैचित्र्य को सुनकर और पाँच पुरुषों का एक ही रूप देखकर दमयंती यह न पहचान सकी कि इनमें यथार्थ नल कौन है। इससे वह अतिशय विषण्ण हुई, और अंत में उसने उन्हीं देवतों का नाम ले-लेकर स्तवन इत्यादि किया। दमयंती की इस भक्ति-भावना से वे देवता प्रसन्न हो गए। उनके प्रसन्न होने से दमयंती की बुद्धि भी विशद हो गई, और उसे वे चार श्लोक स्मरण हुए, जिनको सरस्वती ने यथार्थ नल के सम्मुख कहा था। इन चार श्लोकों में नल का भी वर्णन है और एक-एक में क्रम-क्रम से उन चार दिक्पालों का भी है। वे चारो दिक्पाल चार दिशा के स्वामी हैं और नल, राजा होने के कारण, सभी दिशाओं का स्वामी है। अतएव दमयंती ने जान लिया कि वह परमार्थ नल ही का वर्णन था। दिक्पालों का अर्थ, जो ध्वनित होता था, गौण था। समासोक्ति आदि अलंकारों में प्रकृत वस्तु के अतिरिक्त अप्रकृत का भी अर्थ गर्भित रहता है। परंतु वह केवल कवि का कवित्व-कौशल है; उसमें तथ्य नहीं। नल-विषयक इतना निश्चय हो जाने पर दमयंती को और भी कई बातें उस समय देख पड़ीं, जो देवता और मनुष्य के भेद की सूचक थीं। यथा—नलरूपी देवतों के नेत्र निर्निमेष थे, परंतु नल के नहीं; नलरूपी देवतों के कंठ की माला म्लान न थी, परंतु नल के कंठ की माला म्लान थी। नलरूपी देवतों के शरीर की छाया

न देख पड़ती थी, परंतु नल के शरीर की छाया देख पड़ती थी। इन चिह्नों से दमयंती ने नल को पहचानकर वरणमाल्य उसी के कंठ में डाल दिया। यह देखकर देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए, और नल को प्रत्येक ने भिन्न-भिन्न वर-प्रदान किया।

पंद्रहवें सर्ग में दमयंती का शृंगारादि वर्णन है। सोलहवें में विवाह-विधि, भोजन तथा तत्कालोचित स्त्री-जनों की बातचीत है। सत्रहवें सर्ग में देवतों का प्रत्यागमन, मार्ग में कलि से सम्मिलन, परस्पर में कलह, दमयंती की प्राप्ति का हाल सुनकर नल से कलि का विद्वेष, देवतों का उसको समझाना इत्यादि है। अठारहवें सर्ग में नल और दमयंती का विहार-वर्णन है। उन्नीसवें में प्रभात-वर्णन, बीसवें में नल और दमयंती का हास्यविनोद, इक्कीसवें में नल-कृत ईश्वरार्चन और स्तवन इत्यादि, और अंतिम बाईसवें सर्ग में सायंकाल-वर्णन है।

---

(९)

नैषध-चरित का पद्यात्मक अनुवाद

शिवसिंहसरोज में हमने पढ़ा था कि सं० १८०५ में गुमानी मिश्र ने नैषध-चरित का अनुवाद, काव्यकलानिधि नाम से, किया है। हर्ष की बात है कि यह ग्रंथ बंबई में प्रकाशित भी हो गया है। इस अनुवाद का विज्ञापन प्रकाशित हुए सत्रह-अठारह वर्ष हुए। उसके अधिकांश की नक़ल हम नीचे देते हैं—

नैषधकाव्य

"नैषध (निषध ?) देश के राजा भीमसेन की कन्या पतिप्राणा पतिव्रता सती आदर्शिनी रानी दमयंती और द्यूतचतुर स्थिरप्रतिज्ञ राजा नल का पौराणिक आख्यान है। एक सती स्त्री विपत्ति पड़ने पर कैसे अपने पति की सेवा करती है। महा आपत् काल में विपद्ग्रस्त पति को छोड़कर स्त्री कैसे अलग न होकर अपना धर्म रखती और किस प्रकार अपना दिन काटती है। विपत्ति पड़ने पर एक धीर पुरुष कैसे धैर्य रखता है और अपना धर्म निबाहता है। फिर विपत्ति कटने पर सुख के दिन आते हैं, तो सज्जन पुरुष किस गंभीरता से अपना सर्वस्व सँभालते हैं, इत्यादि। इन बातों का वर्णन तेईस सर्ग में उत्तमोत्तम छंदोबद्ध काव्य में लिखा गया है।"

वाह साहब ! खूब ही नैषध की कथा का सार खींचा है। हमने स्वयं इस अनुवाद को नहीं देखा*; परंतु यदि यह नैषध-चरित का अनुवाद है, तो इसमें वह कथा कदापि नहीं हो सकती, जिसका उल्लेख ऊपर दिए हुए विज्ञापन में किया गया है। यदि यह और किसी नैषध के अनुवाद का विज्ञापन है, तो हम नहीं कह सकते। शिवसिंहसरोज में अनुवाद के दो-एक नमूने भी दिए हुए हैं। उनको देखने से तो वह प्रसिद्ध नैषध-चरित ही का भाषांतर जान पड़ता है। फिर हम नहीं कह सकते कि अनुवाद में तेईस सर्ग कहाँ से कूद पड़े; मूल में तो केवल बाईस ही हैं। श्रीहर्ष ने नैषध-चरित में नल और दमयंती के विपत्तिग्रस्त होने की चर्चा भूलकर भी नहीं की। नहीं जानते, गुमानी कवि ने उस कथा को अपने अनुवाद में कहाँ से लाकर प्रविष्ट कर दिया।

गुमानी मिश्र-कृत नैषध-चरित के अनुवाद को प्रकाशित हुआ सुनकर हमें उसे देखने की उत्कंठा हुई। अतएव हमने शिवसिंहसरोज में उद्धृत किए हुए नैषध के दो श्लोकों का अनुवाद देखा। देखने पर हताश होकर गुमानीजी के ग्रंथ को मँगाने से हमें विरत होना पड़ा। नैषध-चरित के प्रथम सर्ग में एक श्लोक है, जिसमें राजा नल की लोकोत्तर दानशीलता का वर्णन है। वह श्लोक यह है—

---

* इसे हमने अब पढ़ लिया है। यह नैषध-चरित ही का टूटा-फूटा अनुवाद है।

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो
न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ;
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं
द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरः स्थितम् ।
(सर्ग १, श्लोक १६)

इसका अनुवाद गुमानीजी ने किया है—

कवितानि सुमेरु न बाँटि दियो ,
जलदानन सिंधु न सोकि लियो ;
दुहुँ ओर बँधी जुलफैं सुमली ,
नृप मानत औयश की अवली ।

हमको विश्वास है, इस अनुवाद के आशय को थोड़े ही लोग समझ सकेंगे। 'कवितानि' और 'औयश' से यहाँ क्या अर्थ है, सो बिना मूल-ग्रंथ देखे ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। 'औयश' से अभिप्राय अपयश या अयश से है और 'कवितानि' से अभिप्राय 'कवियों' से है ! श्लोक का भावार्थ यह है—

राजा नल सारे सुमेरु को काट-काटकर याचकों को नहीं दे सके; और, दान के समय, संकल्प के लिये समुद्र से जल ले-लेकर उसे मरुस्थल नहीं बना सका। अतएव अपने सिर पर, दोनो ओर, दो भागों में विभक्त केश-कलाप को उसने अपने दो अपयशों के समान माना।

यह भाव गुमानीजी के अनुवाद को पढ़कर मन में सहज

ही उद्भूत होता है अथवा नहीं, इसके विचार का भार हम पाठकों ही पर छोड़ते हैं।

नैषध के प्रथम सर्ग के एक और श्लोक का भी अनुवाद शिवसिंहसरोज में दिया हुआ है। वह श्लोक यह है—

सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणै-
र्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम्;
दिगंगनांगाभरणं रणांगणे
यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी।
(सर्ग १, श्लोक १२)

भावार्थ—राजा नल के चंद्रवत् शुभ्र गुणों* से, कृपाण-रूपी वेमा† के सहारे, रण-क्षेत्र में उसके सुभटों की चातुरीरूपी तुरी‡ ने, दिगंगनाओं के पहनने के लिये, सैकड़ों गज़ लंबा यशोरूपी वस्त्र बुन डाला। दिग्विजयी होने से राजा नल का यश सर्वत्र फैल गया, यह भाव।

इस अर्थ को भाषांतरित करने के लिये गुमानी मिश्र ने यह कवित्त लिखा है—

संगर धरावैं जाके रंग सो सुभट निज
चातुरी तुरी सों जस पटनि बुनत है;

* सूत्र को भी गुण कहते हैं।

† वेमा, कपड़ा बुनने में काम आता है—एक प्रकार का दंड।

‡ तुरी, कड़े बालों की बनी हुई ब्रश के समान एक वस्तु है। उसका उपयोग जुलाहे लोग कपड़ा बुनने के समय करते हैं।

करि करिबाल बेम जोरि-जोरि कोरि-कोरि
चंद्र ते विशद जाके गुननि गुनतु है।
अमल अमोल ओल डोल झलझल होत
कबहुँ घटै न जन देवता सुनतु है;
आठौ दिशि रानी राजधानी के श्रृंगारिबे को
आठै दिगराज जानि चीरनि चुनतु है।

श्लोक का भावार्थ पहले समझे बिना इस कवित्त का आशय जानने के लिये गुमानीजी ही की सहायता आवश्यक है। उसके बिना श्रीहर्ष का अभिप्राय अधिगत करने में बहुत कम लोग समर्थ हो सकते हैं। अनुवाद के सहारे संस्कृत-पद्य का भाव समझ में आ जाना तो दूर रहा, उसे देखकर उलटा व्यामोह उत्पन्न होता है; वह समझ में नहीं आता। न यही समझ पड़े, न वही—ऐसी दशा होती है। जिस समय की यह हिंदी है, उस समय 'कोरि-कोरि, जोरि-जोरि' और 'अमल अमोल ओल डोल झलझल' इत्यादि शब्द-झंकार से लोगों को प्रमोद प्राप्त होता होगा; परंतु इस समय उसकी प्राप्ति कम संभव प्रतीत होती है। एक श्लोक का अनुवाद गुमानीजी ने अतिलघु तोटक-वृत्त में किया और दूसरे का गज़ों लंबे कवित्त में। दोनो श्लोक पास-ही-पास के हैं। जान पड़ता है, छंद के मेल का विचार उन्होंने कुछ भी नहीं किया।

शिवसिंहसरोजवाले ठाकुर साहब के अनुसार गुमानीजी ने 'पंचनली जो नैषध में एक कठिन स्थान है, उसको भी

सलिल कर दिया'। 'सलिल कर दिया'! पंचनली का पानी हो गया! अनुवाद देखने से तो यह बात सिद्ध नहीं होती। उसमें तो नैषध-चरित के भावों की बड़ी ही दुर्दशा हुई है। एक ही चावल के टटोलने से देगची का पूरा हाल विदित हो जाता है। अतएव बिना पूरा अनुवाद देखे ही, पूर्वोक्त दो उदाहरणों से ही, पाठक उसकी योग्यता का हाल जान जायँगे।

---

(१७)

श्रीहर्ष की कविता

श्रीहर्ष को अद्भुत कवित्व-शक्ति प्राप्त थी ; इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु उन्होंने नैषध-चरित में अपनी सहृदयता का विशेष परिचय नहीं दिया। उनका काव्य आदि से लेकर अंत तक विलक्षण अत्युक्तियों और दुरूह कल्पनाओं से जटिल हो रहा है। जिस स्थल में, जिसके विषय में, जिस-जिस क्लिष्ट कल्पना का उन्होंने प्रयोग किया है, उस स्थल में, उस-उस कल्पना का मन में उत्थान होना कभी-कभी असंभव-सा जान पड़ता है। फिर, आपकी कविता ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी है कि उसका भाव सहज ही ध्यान में नहीं आता। कहीं-कहीं तो आपके पद्यों का अर्थ बहुत ही दुर्बोध्य* है। हमारा

---

* देखिए, दमयंती से राजा नल अंधकार का वर्णन करते हैं—

ध्वान्तस्य वामोरु ! विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ;
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय।
(सर्ग २२, श्लोक ३६)

इसकी टीका नारायण पंडित ने कोई दो पृष्ठों में की है। जो 'वैशेषिक दर्शन' के कर्ता के नामादि से परिचित हो, वही अच्छी तरह इसके आशय को समझ सकता है।

यह अभिप्राय नहीं कि इन कारणों से श्रीहर्षजी का काव्य हेय हो गया है। नहीं, इन दोषों के रहते भी, वह अनेक स्थलों में इतना रम्य और इतना मनोहर है कि किसी-किसी पद्य का अनेक बार मनन करने पर भी फिर-फिर उसे पढ़ने की इच्छा बनी ही रहती है। कोई-कोई स्थल तो इतने कारुणिक हैं कि वहाँ पर पाषाण के भी द्रवीभूत होने की संभावना है। तथापि, फिर भी यही कहना पड़ता है कि इनकी कविता में विशेष सारल्य नहीं। कहीं-कहीं, किसी-किसी स्थल में, सरलता हुई भी तो क्या? सौ में दो-चार श्लोकों का काठिन्य वर्जित होना, होना नहीं कहा जा सकता। श्रीहर्षजी को अपनी विद्वत्ता प्रकट करने की जहाँ कहीं थोड़ी भी संधि मिली है, वहाँ उन्होंने उसे हाथ से नहीं जाने दिया; यत्र-यत्र न्याय, सांख्य, योग और व्याकरण आदि तक के तत्त्व भर दिए हैं।

अतिशयोक्ति कहने में श्रीहर्ष का पहला नंबर है। इस विषय में कोई भी अन्य प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवि आपकी बराबरी नहीं कर सकता। अतिशयोक्ति ही के नहीं, आप अनुप्रास के भी भारी भक्त थे। नैषध-चरित में अनुप्रासों का बहुत ही बाहुल्य है। इस कारण, इस काव्य को और भी अधिक काठिन्य प्राप्त हो गया है। अनुप्रासादि शब्दालंकारों से कुछ आनंद मिलता है, यह सत्य है; परंतु सहृदयताव्यंजक और सरस स्वभावोक्तियों से जितना चित्त प्रसन्न और

चमत्कृत होता है, उतना इन बाह्याडंबरों से कदापि नहीं होता। तथापि अनुप्रास और अर्थ-काठिन्य के पक्षपाती पंडितों ने "उदिते नैषधे काव्ये क माघः क्व च भारविः" कहकर किरात और शिशुपालवध से नैषध को श्रेष्ठत्व दे दिया है। अनुप्रास और अतिशयोक्ति आदि में उन काव्यों से नैषध को चाहे भले ही श्रेष्ठत्व प्राप्त हो, परंतु और बातों में नहीं प्राप्त हो सकता। स्वभावानुयायिनी और मनोहारिणी कविता ही यथार्थ कविता है। उसी से आत्मा तल्लीन और मन मुग्ध होता है। जिनको ईश्वर ने सहृदयता दी है और कालिदास के काव्यरस को आस्वादन करने की शक्ति भी दी है, वही इस बात को अच्छी तरह जान सकेंगे। कालिदास का काव्य साद्यंत "सर्वांगीणरसामृतस्तिमितया वाचा"* से परिपूर्ण है। अस्वाभाविक वर्णन का कहीं नाम तक नहीं। समस्त काव्य सरस, सरल और नैसर्गिक है। हम नहीं जानते, देवप्रसाददत्त कवित्व-शक्ति पाकर भी श्रीहर्ष ने क्यों अपने काव्य को इतना दुरूह बनाया? यदि पांडित्य प्रकट करने के लिये ही उन्होंने यह बात की, तो पांडित्य उनका उनके और-और ग्रंथों से प्रकट हो सकता था। काव्य का परमोत्तम गुण प्रसाद-गुण-संपन्नता है, उसी की अवहेलना करना उचित न था। नैषध के अंतिम सर्ग में श्रीहर्ष लिखते हैं—

---

* यह श्रीहर्ष ही की उक्ति है।

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन्खलः खेलतु ;
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्म्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ।

(सर्ग २२, श्लोक १५४)

भावार्थ—पंडित होने का दर्प वहन करनेवाले दुःशील मनुष्य इस काव्य के मर्म को बलात् जानने के लिये चापल्य न कर सकें—इसीलिये मैंने, बुद्धिपुरःसर, कहीं-कहीं, इस ग्रंथ में ग्रंथियाँ लगा दी हैं । जो सज्जन श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक गुरु को प्रसन्न करके, उन गूढ़ ग्रंथियों को सुलझा लेंगे, वही इस काव्य के रस की लहरों में लहरा सकेंगे ।

वाह ! इतना परिश्रम आपने दो-चार दुर्जनों को अपने काव्य-रस से वंचित रखने ही के लिये किया ! अस्तु । प्राचीन पंडितों के विषय में इस तरह की अधिक बातें लिखकर हम किसी को अप्रसन्न नहीं करना चाहते ।

श्रीहर्षजी के ऊपर के श्लोक से यह ध्वनित होता है कि प्रासादिक काव्य करने की भी शक्ति उनमें थी, परंतु जान-बूझकर उन्होंने नैषध-चरित में गाँठें लगाई हैं । लगाई तो हैं, किंतु 'कचित्-कचित्' लगाई हैं, सब कहीं नहीं । परंतु सारल्य 'कचित्-कचित्' ही देख पड़ेगा, गाँठें प्रायः सर्वत्र ही देख पड़ेंगी ।

कालिदास के अनंतर जो कवि हुए हैं, उनके काव्यों की समालोचना करते समय जर्मनी के प्रोफ़ेसर वेबर ने तद्विषयक

अपना जो मत* प्रकट किया है, उसका अनुवाद हम यहाँ पर देते हैं। वह कहते हैं—

"इस प्रकार के काव्यों में वीर-रसात्मकता से संबंध क्रमशः छूटता गया है, और अच्छे-अच्छे शब्दों में शृंगार-रसात्मक वर्णन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई है। कुछ दिनों में, धीरे-धीरे, भाषा ने अपनी सरलता को छोड़कर बड़े-बड़े शब्दों और दीर्घ समासों का आश्रय लिया है। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची है कि नवीन बने हुए सारे काव्य कृत्रिम शब्दाडंबर-मात्र में परिणत हो गए हैं। कविता का मुख्य उद्देश बाहरी शोभा, टेढ़ी-मेढ़ी अलंकार और श्लेषयोजना, शब्द-विन्यास-चातुरी इत्यादि समझा जाने लगा है। काव्य

---

* This latter (the other Kavyas) abandons more and more the epic domain and passes into the erotic, lyrical, or didactic descriptive field ; while the language is more and more overlaid with turgid bombast, until at length, in its later phases, this artificial epic resolves itself into a wretched jingle of words. A pretended elegance of form and the performance of difficult tricks and feats of expression constitute the main aim of the poet ; while the subject has become a purely subordinate consideration, and merely serves as the material which enables him to display his expertness in manipulating the language. *History of Indian Literature.*

का विषय गौण हो गया है ; उसका उपयोग कवि लोग इतने ही के लिये करने लगे हैं, जिससे उसके बहाने उनको अपना भाषा-चातुर्य प्रकट करने का मौक़ा मिले ।"

नैषध-चरित में वेबर साहब के कहे हुए लक्षण प्रायः मिलते हैं।

डॉक्टर रोयर नाम के एक और भी संस्कृतज्ञ साहब की राय में नैषध-चरित बहुत क्लिष्ट और नीरस काव्य है। पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर की भी सम्मति नैषध के विषय में अच्छी नहीं। संस्कृत-साहित्य पर उनकी एक पुस्तक बँगला में है। उसके कुछ अंश का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"श्रीहर्ष में कवित्व-शक्ति भी असाधारण थी, इसमें संदेह नहीं। किंतु उनमें विशेष सहृदयता न थी। उन्होंने नैषध-चरित को आद्योपांत अत्युक्तियों से इतना भर दिया है, और उनकी रचना इतनी माधुर्य-वर्जित लालित्य-हीन, सारल्य-शून्य और अपरिपक्व है कि इस काव्य को किसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य नहीं कह सकते। पूर्व-वर्णित रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय और शिशुपालवध-नामक काव्य-चतुष्टय के साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। श्रीहर्ष की अतिशयोक्तियाँ इतनी उत्कट हैं कि उनके कारण श्रीहर्ष के काव्य को उपा-देयत्व न प्राप्त होकर हेयत्व ही प्राप्त हुआ है।"

तथापि, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, इस काव्य में अनेक उत्तमोत्तम और मनोहर पद्य भी हैं। कहीं-कहीं मार्मिक सहृ-

दयता के भी उदाहरण दिखाई देते हैं। रसनिष्पत्ति भी किसी-किसी स्थल-विशेष में ऐसी हुई है कि हृदय आनंद-सागर में डूब-सा जाता है।

---

(११)

श्रीहर्ष की कविता के नमूने

नैषध-चरित के कुछ श्लोकों को उद्धृत किए विना यह निबंध अपूर्ण रहेगा। अतएव हम कुछ चुने हुए श्लोक यहाँ देते हैं। प्रत्येक श्लोक का भावार्थ लिखने से विस्तार बढ़ेगा, तथापि संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों को श्रीहर्ष का काव्यरस चखाने के लिये हमें भावार्थ भी लिखना ही पड़ेगा।

राजा नल के प्रताप और यश का वर्णन सुनिए—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा;
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।

(सर्ग १, श्लोक १४)

भावार्थ—इस राजा के प्रताप और यश के रहते, सूर्य और चंद्रमा का होना वृथा है। इस प्रकार जब-जब ब्रह्मदेव के मन में आता है, तब-तब वह, मंडल के बहाने, सूर्य और चंद्र दोनो के चारो ओर कुंडलना (घेरा) खींच देता है। अर्थात् सूर्य और चंद्रमा का काम तो राजा नल के प्रताप और यश ही से हो सकता है, फिर इनकी आवश्यकता ही क्या है?

पहले पंडित लोग, जब हाथ से पुस्तकें लिखते थे, तब, यदि कोई शब्द अधिक लिख जाता था, तो उसके चारो तरफ़ हरताल से एक घेरा बनाकर उसकी निरर्थकता व्यक्त करते थे। उसी को देखकर जान पड़ता है, श्रीहर्ष को यह कल्पना सूझी है। परंतु सूझी बहुत दूर की है। इसी से इस उक्ति से विशेष आनंद नहीं आता। सूर्य और चंद्रमा के आस-पास कभी-कभी मंडल देख पड़ता है, सदैव नहीं। इसी से 'यदा-यदा' कहा गया। सृष्टि-रचना में व्यस्त रहने से, इस प्रकार के सोच-विचार के लिये ब्रह्मदेव को सदा समय नहीं मिलता। परंतु जब कभी मिलता है, तब सूर्य और चंद्रमा को बनाना अपनी भूल समझकर उसी समय, तत्काल, उनके आस-पास वह रेखा खींच देता है। भूल सुधारनी ही चाहिए।

राजा नल के घोड़ों का वर्णन—

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं
धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्;
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः
पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः।

(सर्ग १, श्लोक ६९)

भावार्थ—इस पृथ्वी को पार कर जाना तो हमारे लिये कोई बात ही नहीं। यह है कितनी ? इस प्रकार मानो मन में कहते हुए, नल के घोड़ों ने समुद्र पार कर लेने ही के लिये धूल उड़ाना आरंभ किया। अर्थात् समुद्र भी धरातल हो जाय, तो कुछ दूर

चलने को तो मिले। देखिए, कैसे चालाक घोड़े थे! इस अत्युक्ति का कहीं ठिकाना है। सुनते ही चित्त में यह भाव उदित होता है कि यह सब बनावट है। इसी से मन मुदित नहीं होता।

नल की अयाचकता की प्रशंसा—

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभु-
विदर्भराजं तनयामयाचत;
त्यजन्त्यसून् शर्म्म च मानिनो वरं
त्यजन्ति नत्वेकमयाचितव्रतम्।

(सर्ग १, श्लोक ५०)

भावार्थ—यद्यपि राजा नल को सब सामर्थ्य था तथापि, अत्यंत कामार्त होने पर भी, उसने राजा भीम से दमयंती को न माँगा। यही चाहिए भी था। मनस्वी पुरुष, सुख की कौन कहे, प्राण तक छोड़ने से नहीं हिचकते; परंतु अपना अयाचित-व्रत कदापि नहीं छोड़ते। वे मर जायँगे, परंतु माँगेंगे नहीं।

इस पद्य में कोई अत्युक्ति नहीं; बात यथार्थ कही गई है। यही कारण है, जो इसको पढ़ते ही हृदय फड़क उठता है और अद्भुत आनंद मिलता है।

नल ने जब हंस को पकड़ लिया, तब उसने नल पर खूब वाग्बाण छोड़े। देखिए—

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा
न तेषु हिंसारस एष पूर्य्यते?

धिगीदृशन्ते नृपतेः कुविक्रमं
कृपाशये यः कृपणे पतत्रिणि ।
(सर्ग १, श्लोक १३२)

भावार्थ—पद-पद पर, सभी कहीं, अनेक रणोन्मत्त सुभट भरे हुए हैं। क्या उनसे तेरी तृप्ति नहीं होती ? उनसे भिड़कर क्यों नहीं तू अपनी हिंसावृत्ति की पूर्ति करता ? हमारे समान दीन, कृपापात्र पक्षियों के ऊपर तू अपना पराक्रम प्रकट करता है ? तेरे इस कुविक्रम को धिक्कार है !

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ;
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी हृणीयते ?
(सर्ग १, श्लोक १३३)

भावार्थ—मुनियों के सदृश फल-मूलादि से अपनी जीवन-वृत्ति को चरितार्थ करनेवाले मेरे ऊपर भी आज तूने दंड उठाया ! तू पृथ्वी का पति है । तुझे ऐसा नृशंस कर्म करते देख, उस पृथ्वी को भी क्यों नहीं जुगुप्सा उत्पन्न होती ?

इस प्रकार नल को लज्जित करके हंस ब्रह्मा का उपालंभ करता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ;

गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दय-

अहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि न ।

(सर्ग १, श्लोक १३९)

भावार्थ—मैं अपनी वृद्ध माता का अकेला ही पुत्र हूँ। मेरी स्त्री अभी प्रसूता हुई है; उसकी और भी बुरी दशा है। उन दोनो की एकमात्र गति मैं ही हूँ। हे विधे ! मुझे इस प्रकार पीड़ा पहुँचाते क्या तुझे कुछ भी करुणा नहीं आती ?

यह पद्य अत्यंत सरस है; यह करुण-रस का आकर है। सुनते हैं, वर्तमान सेंधिया-नरेश के किसी पूर्वज ने किसी कर्मचारी के मुख से इस श्लोक को सुनकर उसे कारागार-मुक्त कर दिया था। उस मनुष्य के कुटुंब की भी वही दशा थी, जो हंस के कुटुंब की थी। वह कुछ रुपया खा गया था और कारागार के भीतर, अपनी शोचनीय स्थिति का स्मरण कर-करके, इसी श्लोक को वारंवार सुस्वर गाता था। सेंधिया ने उसके मुख से अनायास यह पद्य सुनकर उससे इसका अर्थ पूछा और हंस की तथा उसकी दोनो की समता देख, और उसके गाने के लय से प्रसन्न होकर, उसका अपराध क्षमा कर दिया। यही नहीं, उसे ख़िलत भी दी।

चंद्रमा में जो कालिमा देख पड़ती है, उस पर श्रीहर्षजी की उत्प्रेक्षा सुनिए—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ;
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ।

(सर्ग २, श्लोक २५)

भावार्थ—जान पड़ता है, दमयंती के मुख की निर्मलता बढ़ाने के लिये ब्रह्मदेव ने चंद्रमंडल को निचोड़कर उसका सार खींच लिया है । इसी से बीच में छिद्र हो जाने से उसके अंतर्गत आकाश की नीलिमा दिखाई देती है ।

ऊपर दिए हुए पद्य में श्रीहर्ष को बहुत दूर की सूझी है । यह श्लोक हंस ने, राजा नल से दमयंती के स्वरूप का वर्णन करते समय, कहा है ।

दमयंती के वदन-वर्णन का नमूना हो गया । अब नल के मुख-वर्णन का नमूना लीजिए—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं
श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ;
सूरे, समुद्रस्य कदापि पूरे,
कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ।

(सर्ग ३, श्लोक ३३)

भावार्थ—दमयंती से नल की प्रशंसा करते हुए हंस कहता है—अपने मुख को जीतनेवाले नल के मुख का वर्णन हमारे मुख से सुनकर, अत्यंत लज्जित हुआ चंद्रमा, कभी तो सूर्यमंडल में प्रवेश कर जाता है, कभी समुद्र में कूद पड़ता है और कभी मेघमाला के पीछे छिप जाता है । खूब ।

उत्प्रेक्षा के साथ-ही-साथ शब्दों का घटाटोप भी देखने योग्य है।

तीसरे सर्ग में हंस और दमयंती की बातचीत है। जहाँ सहेलियों के साथ दमयंती बैठी थी, वहीं अकस्मात् हंस पहुँच गया। उसको देखकर वे सब चकित हो गईं। दमयंती ने हंस को पकड़ना चाहा। वह उसके पीछे-पीछे दौड़ी। जब वह बहुत दूर तक निकल गई और उसकी सहेलियाँ सब पीछे रह गईं, तब हंस ने उससे वार्तालाप करना आरंभ किया। इस पर श्रीहर्ष ने बहुत ही सरस, सरल और ललित श्लोक कहे हैं। शायद इस समय वह 'ग्रंथग्रंथि'-वाली बात भूल गए थे। यहाँ के कई श्लोक हम उद्धृत करते हैं—

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां
छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार ;
तदा श्रमाम्भःकणभूषितांगीं
स कीरवन्मानुषवागवादीत् ।

(सर्ग ३, श्लोक १२)

भावार्थ—क्रुद्ध होकर (ये हंस को उड़ाए देती हैं, इसलिये) अपनी सहेलियों को आने से जिसने रोक दिया है ; छाया के सिवा और कोई जिसके साथ नहीं ; दौड़ने के श्रम से जिसके सारे शरीर पर स्वेद-कण शोभा दे रहे हैं—ऐसी दमयंती से हंस शुकवत् मनुष्य की वाणी बोला—

अये ! कियद्यावदुपैषि दूरं ?
व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ?

उदेति ते भीरपि किन्तु ? बाले !

विलोकयन्त्या न घना वनालीः।

(सर्ग ३, श्लोक १३)

भावार्थ—अये ! कहाँ तक तू हमारे पीछे दौड़ेगी ? वृथा क्यों परिश्रम करती है ? तू तो अभी बाला है; इस घने वन को देखकर भी क्या तुझे डर नहीं लगता ?

वृथार्पयन्तीमपथे पदं त्वां

* मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ;

आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं

कपोतहुंकारगिरा वनालिः।

(सर्ग ३, श्लोक १४)

भावार्थ—तुझे कुपथ में पैर रखते देख यह वनराजि, वायु से चंचल होनेवाले अपने पल्लवरूपी हाथों तथा कपोतों की हुंकाररूपी वाणी से, देख, तुझे सखी के सदृश रोकती है।

---

* राधाविनोद में भी लकार-बाहुल्य से पूरित एक श्लोक है। देखिए—

कमलिनी मलिनामलिनालिना

विचलता चलतासु लतां शुभाम् ;

विधुतभां विधुतां विधुभानुभि-

र्नयनयोरनयोर्नयसीनयोः ।५।

यह पद्य ललित तो है, परंतु यमकमय होने से क्लिष्टता-दूषित है। नैषध का पद्य इस दोष से वर्जित है और साथ ही सरस भी है।

धार्यः कथंकारमहं भवत्या
वियद्विहारी वसुधैकगत्या ?
अहो शिशुत्वं तव खंडितं न
स्मरस्य सख्या वयसाप्यनेन ।
(सर्ग ३, श्लोक १५)

भावार्थ—मैं आकाश में उड़नेवाला; तू पृथ्वी पर चलने-वाली। फिर, तू ही कह, तू किस प्रकार मुझे पकड़ सकती है ? यद्यपि तू यौवनावस्था में पदार्पण कर चुकी है, तथापि तेरा लड़कपन, अभी तक, नहीं छूटा । आश्चर्य है !

यह समस्त वर्णन स्वाभाविक है। इसी से इन श्लोकों से अलौकिक आनंद प्राप्त होता है। चौदहवाँ श्लोक बहुत ही ललित है। ऐसे ललित श्लोक नैषध-चरित में कम हैं। श्रीहर्ष-जी को सीधी बात अच्छी ही नहीं लगती। आपने दमयंती को 'अकेली' नहीं कहा; 'छायाद्वितीयां' कहकर नाम-मात्र के लिये उसको एक और साथी भी दे दिया। पंद्रहवें श्लोक को देखकर करीमा में शेख़सादी की यह उक्ति—

चेहल साल उमरे अज़ीज़त् गुज़श्त ;
मिज़ाजे तो अज़हाल तिफ़्ली न गश्त ।

स्मरण आती है।

हंस ने दमयंती से नल की अतिशय प्रशंसा की। फिर कहा कि मैंने ब्रह्मदेव से एक बार यह सुना है कि नल ही दमयंती के योग्य वर है। अतएव इस विषय में तुम्हारी क्या

सम्मति है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीहर्ष ने दमयंती के मुख से जो श्लोक कहाया है, वह बहुत ही चमत्कार-पूर्ण है। दमयंती कहती है—

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु ;
मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ;
का नाम बाला द्विजराजपाणि-
ग्रहाभिलाषं कथयेदभिज्ञा ?
(सर्ग ३, श्लोक ५६)

भावार्थ—जिस मनोरथ को मन ही नहीं छोड़ता अर्थात् जिसको मैंने हृदय में धारण कर रक्खा है, वह मनोरथ कंठदेश को किस प्रकार जा सकता है ? अर्थात् मन की बात को मैं वाणी का विषय किस प्रकार कर सकती हूँ। कहिए, कौन विवेकवती बाला स्त्री चंद्रमा को हाथ से पकड़ने की अभिलाषा व्यक्त कर सकती है ? अर्थात् हाथ से चंद्रमा को पकड़ लेना जैसे दुस्तर है, वैसे ही मेरे मनोरथ की सिद्धि भी दुस्तर है।

'द्विजराज' चंद्रमा का नाम है। अतएव 'द्विजराजपाणि-ग्रहणाभिलाषम्' इस प्रकार छेद करने से पूर्वोक्त अर्थ निकलता है। परंतु, 'द्विज' और 'राजपाणिग्रहणाभिलाषम्' इस प्रकार पृथक्-पृथक् छेद करने से यह अर्थ निकलता है कि हे द्विज ! (पक्षिन् !) जिसे किंचिन्मात्र भी बुद्धि ईश्वर ने दी है, ऐसी कौन बाला स्त्री राजा से पाणिग्रहण होने की अभिलाषा कर

सकती है? अर्थात् इस प्रकार की दुष्प्राप्य अभिलाषा कोई भी कन्या अपने मुख से नहीं व्यक्त कर सकती। यह श्लोक श्लेष-युक्त है। इसमें दमयंती ने श्लेषचातुरी से नल के द्वारा अपने पाणिग्रहण होने की अभिलाषा प्रकट करके उसका दुष्प्राप्यत्व सूचित किया है।

संयोग के अनंतर जब वियोग होता है, तभी वह अधिक दुःसह होता है। यही व्यापक नियम है। परंतु श्रीहर्षजी को विप्रलंभ-शृंगार वर्णन करना था। इस कारण उस नियम की ओर उन्होंने दृक्पात नहीं किया। हंस के मुख से नल का वृत्तांत सुनकर उन्होंने दमयंती का अनुराग इतना बढ़ाया है, जिसका ठिकाना नहीं। नल के गुणों का चिंतन करके, तथा उसके स्वरूपादि की भावना करके, दमयंती को असह्य वेदनाएँ होने लगीं। ऐसी दशा में उसने चंद्रमा और काम का अतिशय उपालंभ किया है। उपालंभ के पहले, दमयंती के ही मुख से उसके विरह की भीषणता का हाल सुनिए—

जनुरधत्त सती स्मरतापिता
हिमवतो न तु तन्महिमादृता ;
ज्वलति भालतले लिखितः सती-
विरह एव हरस्य न लोचनम् ।
(सर्ग ४, श्लोक ४९)

भावार्थ—पूर्व जन्म में शंकर के विरह ही से अत्यंत संतप्त होकर सती ने हिमवान् (बर्फ़ धारण करनेवाले हिमालय)

के यहाँ जन्म लिया। उसकी महिमा का विचार करके जन्म नहीं लिया। सती की तो यह दशा हुई ; शंकर की उससे भी विशेष। उनके मस्तक पर, जिसे लोग तीसरा नेत्र कहते हैं, वह नेत्र नहीं है, किंतु ब्रह्मदेव का लिखा हुआ सती का प्रज्वलित विरह है।

जो जल जाता है, उसे शीतल वस्तु का आश्रय लेना ही पड़ता है। सतीजी शंकर के वियोग से अत्यंत संतप्त हो रही थीं। इसीलिये, हिममंडित शिखरधारी हिमालय के यहाँ अपनी वियोगाग्नि शीतल करने ही के लिये उन्होंने जन्म लिया—यह भाव।

दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा
विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम् ;
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः
प्रियमपासुमुपासितुमुद्धराः।

(सर्ग ४, श्लोक ४६)

भावार्थ—अग्नि से उत्पन्न हुई दाह-व्यथा कोई व्यथा नहीं कहलाती। वियोगाग्नि से उत्पन्न हुई व्यथा ही उत्कट व्यथा है। यदि ऐसा न होता, तो स्त्रियाँ मृतक पति के साथ, किसी की भी परवा न करके, प्रत्यक्ष अग्नि में क्यों प्रवेश कर जातीं ?

श्रीहर्षजी की कल्पनाएँ देखीं ? कैसे आकाश-पाताल एक कर देती हैं।

अब चंद्रोपालंभ सुनिए। इस उपालंभ में श्रीहर्ष ने विष्णु भगवान् तक को याद किया है—

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः
स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ?
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया ?
किमुदधौ जड ! वा वडवानलात् ?
(सर्ग ४, श्लोक ४८)

भावार्थ—अयि सखि, तू चंद्रमा से पूछ कि तूने किस गुरु से यह दाहिका विद्या सीखी है ? हे जड़ ! कालकूट विष पीनेवाले शंकर के कंठ से सीखी है अथवा बड़वानल से सीखी है ?

शंकर के ललाट पर चंद्रमा का वास है और समुद्र से वह निकला है । अतएव कहे हुए दोनों मार्गों से दाहत्व सीखना संभव है।

अयमयोगिवधूवधपातकै-
र्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ;
क्षितिनिशादृषदि स्फुटमुत्पतत्
कणगणाधिकतारकिताम्बरः ।
(सर्ग ४, श्लोक ४९)

भावार्थ—इस चंद्रमा ने अनेक निरपराध विरहिणी स्त्रियों को मारकर पाप कमाया है। इसी से फिराकर, अँधेरी-रात्रि-रूप पत्थर के ऊपर, आकाश से, यह पटका जाता है।

पटकने पर, खंड-खंड हो जाने से, इसके अंग-संभूत कण जो ऊपर को उड़ते हैं, उन्हीं से आकाश तारकित हो जाता है।

लीजिए, कृष्णपक्ष में अधिक तारकाएँ दिखाई देने का कैसा अनोखा कारण श्रीहर्षजी ने ढूँढ़ निकाला है—

त्वमभिधेहि विधुं सखि मद्गिरा
किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया ;
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ
हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता।

(सर्ग ४, श्लोक ५०)

भावार्थ—हे सखि, तू मेरी ओर से इस चंद्रमा से कह कि यह तू क्या कर रहा है? यदि तुझे महासागर से जन्म ग्रहण करने की बात याद नहीं, तो क्या तू महादेवजी के शीश पर अपना रहना भी भूल गया?

अर्थात् उत्तम कुल में उत्पन्न होनेवाले और शंकर के उत्तमांग में, गंगाजी के निकट, निवास करनेवाले को ऐसा नृशंस कर्म करना उचित नहीं।

निपततापि न मन्दरभूभृता
त्वमुदधौ शशलाञ्छन चूर्णितः ;
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां
बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः।

(सर्ग ४, श्लोक ५१)

भावार्थ—हे शशलांछन ! जिस समय मंदराचल ने समुद्र का मंथन किया था, उस समय भी तू चूर्ण न हो गया ! अथवा जब अगस्त्य मुनि ने समुद्र-पान किया था, तब उनके जठराग्नि में भी तू गल न गया !

अब देखिए, श्रीहर्ष ने विष्णु की कैसी खबर ली है—

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो-
मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम् ;
विरहिमूर्द्धभिदं निगदन्ति न
क नु शशी यदि तज्जठरानलः ।
(सर्ग ४, श्लोक ६६)

भावार्थ—भोले-भाले पुरातत्त्व-वेत्ता ऋषि, विष्णु को राहु-शिरश्छिद्, अर्थात् राहु का सिर काटनेवाला, कहते हैं । यह उनकी महाभूल है । उनको चाहिए कि राहुशिरश्छिद् के स्थान में विरहिमूर्द्धभिद्, अर्थात् विरही जनों के सिर काटनेवाले, के नाम से विष्णु को पुकारें ; क्योंकि, यदि वे राहु का सिर न काट लेते तो, ग्रहण के समय, चंद्रमा उसके उदर में जाकर जठराग्नि में गल गया होता ; और यदि वह गल जाता, तो विरहिणी स्त्रियों अथवा पुरुषों की चंद्रसंतापजात मृत्यु न होती ।

क्या कहना है ! इससे बढ़ी-चढ़ी कल्पना और क्या हो सकती है !

दमयंती ने काम का भी बहुत उपालंभ किया है ; परं

लेख बढ़ जाने के भय से उस विषय के श्लोक हम नहीं उद्धृत करते।

इस प्रकार बकते-झकते बहुत समय बीत गया। तब दमयंती को उसकी सखी ने समझाना और धैर्य देना आरंभ किया। कुछ देर तक इन दोनो की परस्पर बातें हुईं। अंत में सखी ने कहा—

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा
हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ;

भावार्थ—कामाग्नि से दग्ध होकर, हारस्थ मणि के फूट जाने से, देख, तेरा हृदय भी आज अनलंकृत (अलंकार-विहीन) हो गया।

दमयंती ने इसका और ही अर्थ किया। ऊपर श्लोक का पूर्वार्द्ध दिया गया है; नीचे उसी का उत्तरार्द्ध सुनिए! दमयंती ने कहा—

सखि, हतास्मि तदा यदि हृद्यपि
प्रियतमः स मम व्यवधापितः।
(सर्ग ४, श्लोक १०६)

भावार्थ—यदि मेरा हृदय भी अनलंकृत (नल-विहीन) हो गया, अर्थात् यदि मेरे हृदय से भी मेरा प्रियतम दूर चला गया, तो फिर मैं मरी!

यह कहकर दमयंती मूर्च्छित हो गई। 'अनलंकृत' श्लिष्ट पद है। उससे अलंकार-विहीनत्व और नल-विहीनत्व-सूचक

दोनो अर्थ निकलते हैं। श्रीहर्षजी की श्लेष-रचना का भी यह अच्छा उदाहरण है।

समालोचकों ने बहुत ठीक कहा है कि पीछे से बने हुए काव्यों में, मुख्य विषय की ओर तो कम, परंतु आनुषंगिक बातों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और उन्हीं का विशेष विस्तार किया गया है। द्वितीय सर्ग में हंस के मुख से एक बार श्रीहर्षजी दमयंती का वर्णन कर चुके हैं; परंतु उतने से आपकी तृप्ति नहीं हुई। पूरा सप्तम सर्ग-का-सर्ग फिर भी दमयंती के सिर से लेकर पैर तक के वर्णन से भरा हुआ है। यही नहीं, आगे दशम सर्ग में, स्वयंवर के समय भी, इस वर्णन का पिष्ट-पेषण हुआ है। कहाँ तो नल दिक्पालों का संदेश कहने गए थे, कहाँ दमयंती के मंदिर में प्रवेश करके आप उसका रूप वर्णन करने लगे। सो भी एक-दो श्लोकों में नहीं, आपके मुख से सैकड़ों श्लोक कहाए गए हैं। उसमें एक और भी विशेषता हुई है। श्रीहर्ष ने दमयंती के गुप्त अंगों तक का वर्णन नहीं छोड़ा। यह बात, आज तक, श्रीहर्ष को छोड़कर और किसी महाकवि ने अपने काव्य में नहीं की। आप लिखते हैं—

> अंगेन केनापि विजेतुमस्या
>
> गवेष्यते किं चलपत्रपत्रम्?
>
> न चेद्विशेषादितरच्छदेभ्य-
>
> स्तस्यास्तु कम्पस्तु कुतो भयेन।
>
> (सर्ग ७, श्लोक ८६)

भावार्थ—इस दमयंती का कोई अनिर्वचनीय अंग (अर्थात् जिसका नाम नहीं लिया जा सकता) क्या पीपल के पत्तें को, उसे जीतने के लिये, ढूँढ़ रहा है ? हमारा तर्क ठीक जान पड़ता है; क्योंकि, यदि ऐसा न होता, तो पीपल के पत्ते को, और वृक्षों के पत्तों से अधिक, किसके भय से इतना कंप छूटता ? अपने से अधिक बलवान् शत्रु जब पीछा करता है, तभी मनुष्य अथवा अन्य जीव भय-वश काँपने लगते हैं—यह भाव।

पीपल के पत्ते वायु से अधिक हिलते हैं। उनके हिलने पर महाकवि ने यह महाकल्पना सोची है।

दमयंती के सम्मुख जब नल अकस्मात् प्रकट हुआ, तब दमयंती और उसकी सहेलियाँ चकित होकर घबरा गईं। अपने-अपने आसन से वे उठ बैठीं और कर्तव्य-विमूढ़ होकर एक दूसरे की ओर देखने लगीं कि यह कौन है और कहाँ से अचानक इस प्रकार अंतःपुर में चला आया। कुछ देर बाद हृदय को कड़ा करके दमयंती ने स्वयं ही पूछ-पाछ प्रारंभ की—

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि
स्वमासनं तत्किमिति चयाच्च;
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत
प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि।

(सर्ग ८, श्लोक २२)

भावार्थ—आपको देखते ही उठकर मैंने अपना आसन जो

आपकी ओर कर दिया, वह यद्यपि आपके योग्य नहीं है, तथापि उसको—आप और ही कहीं जाने की इच्छा भले ही क्यों न रखते हों—क्षण-भर के लिये तो अलंकृत कीजिए।

निवेद्यतां हन्त समापयन्तौ
शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम्;
पादौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे
निधित्सते तुच्छदयं मनस्ते।

(सर्ग ८, श्लोक २४)

भावार्थ—कहिए तो सही, शिरीष की कलियों की कोमलता के भी अभिमान को हरण करनेवाले, अत्यंत कोमल, इस चरणद्वय को आपका निर्दय मन और कहाँ तक कष्ट देना चाहता है? अर्थात् बैठ जाइए।

अनायि देशः कतमस्त्वयाद्य
वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य;
त्वदास्यसंकेततया कृतार्थां
अव्यापि नानेन जनेन संज्ञा।

(सर्ग ८, श्लोक २५)

भावार्थ—वसंत के चले जाने से वन की जो दशा होती है, अर्थात् वन जैसे शोभा-हीन दशा को पहुँच जाता है, उस दशा में आपने किस देश को परिणत कर दिया (आपका आगमन कहाँ से हुआ, यह भाव)। आप अपने मुख से अपने नाम का संकेत करके उसे कृतार्थ कीजिए; मैं भी तो उसे सुन लूँ।

इसके अनंतर दमयंती ने नल के सौंदर्यादि का एक लंबा-चौड़ा वर्णन नल ही के सम्मुख किया है। दमयंती कहती है—

महीं कृतार्था यदि मानवोऽसि
जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि;
कुलं त्वयालङ्कृतमौरगञ्चे-
न्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥

(सर्ग ८, श्लोक ४४)

भावार्थ—यदि आप मनुष्य हैं, तो पृथ्वी कृतार्थ है; यदि आप देवता हैं, तो देवलोक धन्य है; यदि आपने नाग-कुल को अलंकृत किया है तो, नीचे होकर भी, नाग-लोक किसके ऊपर नहीं? अर्थात् आपके जन्म से वह सर्वोच्च पदवी को पहुँच गया।

इयत्कृतं केन महीजगत्या-
महो महीयः सुकृतं जनेन;
पादौ यमुद्दिश्य तवापि पद्या-
रजःसु पद्मस्रजमारभेते ।

(सर्ग ८, श्लोक ४७)

भावार्थ—इस महीतल में इतना अधिक पुण्य किसने किया है, जिसके उद्देश से आपके भी पद गलियों की धूल में कमल की-सी माला बिछाते चले जाते हैं।

ब्रवीति मे किं किमियं न जाने
सन्देहदोलामवलम्ब्य संवित्;

कस्यासि धन्यस्य गृहातिथिस्त्व-
मलीकसम्भावनयाथवालम् ।

(सर्ग ८, श्लोक ४८)

भावार्थ—संदेह की दोला का अवलंब करके, मैं नहीं जानती, कितने कितने प्रकार की कल्पनाएँ मेरी बुद्धि कर रही है। अच्छा, बहुत हुआ। अब इस प्रकार की संभावनाओं से कोई लाभ नहीं। आप ही कृपा-पूर्वक स्पष्ट कहिए कि किस धन्य के आप अतिथि होने आए हैं।

प्रागेव तावत् तव रूपसृष्टं
निपीय दृष्टिर्जनुषः फलं मे ;
अपि श्रुती नामृतमाद्रियेतां
तयोःप्रसादीकुरुषे गिरञ्चेत् ।

(सर्ग ८, श्लोक ४९)

भावार्थ—आपके इस अप्रतिम रूप को देखकर मेरी दृष्टि तो अपने जन्म का फल पा चुकी। अब आप ऐसी कृपा कीजिए, जिससे मेरी कर्णेंद्रिय भी आपका वचनामृत पान करके कृतार्थ हो जाय।

इस प्रकार नल के प्रति दमयंती के कथन को सुनाकर श्रीहर्षजी कहते हैं—

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती
तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा ;

कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी

वाणीमिषेणास्य मनोविवेश ।

(सर्ग ८, श्लोक ४०)

भावार्थ—इस प्रकार शहद के समान मधुर रस बरसाने-वाली दमयंती के ओष्ठरूपी बंधूक-पुष्प के धनुष से निकली हुई, पुष्पशायक (काम) की पंचबाणी (पंचबाणावली), वाणी के बहाने, कर्ण द्वारा, नल के हृदय में प्रवेश कर गई। काम-बाणों से नल का अंतःकरण छिद गया—यह भाव ।

यह पद्य बहुत ही सरस है। इसका उत्तर नल ने क्या दिया, सो भी सुन लीजिए—

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि

त्वदीयमेवातिथिमागतं माम् ;

वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण

प्राणानिव स्वप्रभुवाचकानि ।

(सर्ग ८, श्लोक ४४)

भावार्थ—अपने स्वामिवर्ग के संदेश को प्राणों के समान अंतःकरण में बड़े आदर से धारण करके दिक्पाल-देवतों की सभा से मैं तुम्हारा ही अतिथि होने आया हूँ ।

विरम्यतां भूतवती सपर्या

निविश्यतामासनमुज्झितं किम् ?

या दूतता नः फलिनी विधेया

सैवातिथेयी पृथुरुद्भवित्री ।

(सर्ग ८, श्लोक ४६)

भावार्थ—बस, रहने दीजिए; मेरा आदर हो चुका। बैठिए, आसन क्यों छोड़ दिया? मैं जिस काम के लिये तुम्हारे पास आया हूँ, उस काम को यदि तुम सफल कर दोगी, तो इसी सफलता को मैं अपना सर्वोत्तम आतिथ्य समझूँगा।

नैषध के नवम सर्ग की कथा बहुत ही मनोहारिणी है। यह सर्ग सब सर्गों की अपेक्षा विशेष रम्य है। नल से दमयंती ने उनका नाम-धाम पूछा था। सो तो उसने बताया नहीं। आप एक लंबी-चौड़ी वक्तृता द्वारा देवतों का संदेश घंटों गाते रहे। "वह तुमको अतिशय चाहता है; तुम्हारे विना उसकी यह दशा हो रही है; उसका तुम अवश्य अंगीकार करो"—इत्यादि अनेक बातें नल ने दमयंती से कहीं। इस शिष्टाचार-विघातक व्यवहार को देखकर दमयंती ने नल का बहुत उपालंभ किया और नाम-धाम इत्यादि बताने के लिये पुनः-पुनः अनुरोध किया। परंतु नल ने एक न मानी। बहुत कहने पर आपने 'मैं चंद्रवंशांकुर हूँ' इतना ही बतलाया; अधिक नहीं। नल कहने लगा—"मैं संदेश कहने आया हूँ। संदेश कहनेवाले दूत का काम 'हम', 'तुम' इत्यादि शब्दों से ही चल सकता है; नामादि बतलाने की आवश्यकता नहीं होती।" अपने कुल के विषय में नल ने इतना अवश्य कहा—

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वलं कुलं
ततस्तदुद्भावनमौचिती कुतः;

अथावदातं　तदहो　विडम्बना
　　　　यथातथा　प्रेष्यतयोपसेदुषः ।
　　　　　　　　　　　　(सर्ग ६, श्लोक १०)

भावार्थ—यदि मेरा कुल प्रशस्त नहीं है, तो बुरी वस्तु का नाम कैसे लूँ ? और यदि है, तो अच्छे कुल में जन्म लेकर इस प्रकार दूतत्व करना मेरी विडंबना है । अतः उस विषय में चुप रहना ही अच्छा है । परंतु किसी तरह, बहुत सोच-संकोच के अनंतर, आपने "हिमांशुवंशस्य करीरमेव मां" कहकर अपने को चंद्रवंशी बतलाया । इतना बतलाकर, पुनर्वार दमयंती के द्वारा जब अपना नाम बतलाने के लिये नल अनुरुद्ध किए गए, तब आप कहने लगे—

महाजनाचारपरम्परेदशी
　　　　स्वनाम नामाददते न साधवः ;
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुन-
　　　　र्जनःकिलाचारमुचं विगायति ।
　　　　　　　　　　　　(सर्ग ६, श्लोक १२)

भावार्थ—सत्पुरुषों की यह रीति है कि वे अपने मुख से अपना नाम नहीं लेते । इसीलिये मैं भी तुमसे अपना नाम बतलाने का साहस नहीं कर सकता, क्योंकि सदाचार के प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले की लोक में निंदा होती है ।

इस पर दमयंती ने नल का फिर भी उपालंभ करना प्रारंभ किया । वह कहने लगी—"वाह, कुछ तो आप बतलाते हैं,

और कुछ नहीं बतलाते। अच्छी वंचना-चातुरी आपने सीखी है। यदि आप अपना नाम न बतलावेंगे, तो मैं भी आपके प्रश्नों का उत्तर न दूँगी। क्या आप नहीं जानते कि पर-पुरुष के साथ कुल-कन्याओं को इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर करते बैठना उचित नहीं है?"

यह सुनकर नल बहुत घबराया और कहने लगा—"मुझको धिक्कार है कि मैं दूतत्व का भी काम अच्छे प्रकार नहीं कर सकता। शीघ्रता के काम में इतनी देरी मैं कर रहा हूँ! हे दमयंति! तुझको उचित है कि अपनी इस मधुर वाणी का प्रयोग, जो मेरे साथ वृथा वार्तालाप में कर रही है, देवतों के संदेश का उत्तर देने में करके उनको कृतार्थ कर। क्योंकि—

यथा यथेह त्वदपेक्षयानया
निमेषमप्येष जनो विलम्बते ;
तथा शरव्यीकरणे दिवौकसां
तथा तथाद्य त्वरते रतेः पतिः।
(सर्ग ६, श्लोक २०)

भावार्थ—जैसे-जैसे मैं यहाँ इस प्रकार तुम्हारे उत्तर की अपेक्षा में पल-पल की देरी कर रहा हूँ, वैसे-ही-वैसे रतिनायक देवतों को अपने बाण का निशाना बनाने के लिये शीघ्रता कर रहा है।" इस तरह नल का हठ देखकर दमयंती ने उत्तर दिया—

वृथा परीहास इति प्रगल्भता
न नेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा ;
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरा-
दतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते ।
(सर्ग ६, श्लोक २९)

भावार्थ—वृथा परिहास करते बैठना प्रगल्भता है ; आपके सदृश महात्मा जनों से 'न-न' कहते रहना वाणी की विगर्हणा है ; न बोलने से अवज्ञा होती है ; अतएव उत्तर देने को मैं विवश हूँ ।

उत्तर में दमयंती ने अपने साथ विवाह करने की इच्छा रखनेवाले देवतों को बहुत धन्यवाद देकर यह कहा कि मैं नल की हो चुकी हूँ । अतएव अब मेरी प्राप्ति के विषय में देवतों का प्रयत्न व्यर्थ है । दमयंती ने यहाँ तक कहा कि—

अपि दृढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं
स पीडयेत्पाणिमिमं न चेन्नृपः ;
हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां
निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ।
(सर्ग ६, श्लोक ४९)

भावार्थ—मैं अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा आपसे कहती हूँ । यदि वह नरेश्वर नल मेरा कर-ग्रहण न करेगा, तो मैं अग्नि में प्रवेश करके, जल में डूबकर, अथवा गले में फाँसी लगाकर अपने इस दुष्ट आयुष्य के वैर से मुक्त हो जाऊँगी ।

स्मरण रहे, दमयंती यह सब नल ही से कह रही है। इस कथन में यह सबसे बड़ी विशेषता है।

प्रतिज्ञा के अनंतर दमयंती ने नल की प्राप्ति के विषय में अतीव औत्सुक्य और अतीव अधैर्य प्रकट किया। उसने कहा—

"स्वयंवर होने में एक ही दिन शेष है। परंतु मेरे प्राणों का अंत इस एक दिन के अंत होने के पहले ही होना चाहता है। अतएव मेरे ऊपर दया करके आप एक दिन यहीं ठहर जाइए, जिससे आपको देख-देखकर किसी प्रकार मैं यह एक दिन काटने में समर्थ हो जाऊँ। मैं आपको इसलिये ठहराना चाहती हूँ कि उस हंस ने अपने पद के नखों से पृथ्वी पर मेरे प्रियतम का जो चित्र खींचा था, वह आपसे बहुत कुछ मिलता है। अतएव जब तक मुझे मेरे प्रियतम के दर्शन नहीं होते, तब तक उसके सदृश आपको देखकर ही किसी तरह मैं अपने प्राण रखना चाहती हूँ।"

इस अलौकिक अनुराग को देख और इस सुदृढ़ प्रतिज्ञा को सुनकर भी, दूतत्व धर्म से अणु-मात्र भी विचलित न होकर, नल अपनी ही गाते रहे और बार-बार यही सिद्ध करते गए कि मनुष्य को छोड़ देवतों से ही संबंध करने में तुम्हारी भलाई है। जब दमयंती ने किसी प्रकार उनके उपदेश को न माना, तब आपने उसे बिभीषिका दिखाना प्रारंभ किया। नल ने कहा कि यदि वरुण और अग्नि तुम्हारे विरुद्ध हो जायँगे, तो जल और अग्नि के विना तुम्हारा पिता कन्यादान ही न कर सकेगा। यदि

यम विरुद्ध हो जायगा, तो तुम्हारे अथवा वर के पक्ष का कोई-न-कोई मनुष्य वह मार डालेगा। अतएव सूतक हो जाने से नल के साथ तुम्हारा विवाह न हो सकेगा। इंद्र यदि कल्पवृक्ष से तुमको माँग लेगा, तो उसके पास तुम्हें अवश्य ही जाना पड़ेगा। अतएव—

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया
विहाय मोहं दमयन्ति ! चिन्तय ;
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः
करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ।
(सर्ग ९, श्लोक ८३)

अर्थात्—हे दमयंति ! मैंने जो कुछ तुमसे कहा, तुम्हारे ही हित के लिये कहा। मूर्खता को छोड़कर कुछ तो मन में विचार कर। यदि देवता ही विघ्न करने पर उद्यत हो जायँगे, तो किसका सामर्थ्य है कि हथेली पर रक्खी हुई वस्तु को भी वह हाथ लगा सके ?

ये सब बातें दमयंती के चित्त में जम गईं। उसने यथार्थ ही समझ लिया कि अब मैं किसी प्रकार नल को नहीं प्राप्त कर सकती। इस तरह हताश हो जाने के कारण वह अत्यंत विह्वल होकर विलाप करने लगी। दमयंती का यह विलाप इतना कारुणिक है कि जिसमें कुछ भी सहृदयता है, वह उसे पढ़कर साश्रु हुए विना कदापि नहीं रह सकता।

आँसू गिराते हुए दमयती कहती है—

त्वरस्व पञ्चेषु हुताशनात्मन-
स्तनुष्व मद्भस्मचयं यशश्चयम् ;
विधे ! परेच्छाफलभञ्जनव्रती
पताद्य तृप्यन्नसुभिर्ममाफलैः ।

(सर्ग ४, श्लोक ८८)

भावार्थ—हे कामाग्ने ! तू शीघ्र ही मेरे शरीर को भस्म करके अपने यशःसमूह का विस्तार कर। हे विधाता ! दूसरे की कामना भंग करना ही तेरा कुलव्रत है ! तू भी मेरे इन दुष्ट प्राणों से तृप्त होकर पतित हो जा !

भृशं वियोगानलताप्यमान ! किं
विलीयसे न त्वमयोमयं यदि ;
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि
ब्रवीषि न स्वान्त ! कथं न दीर्य्यसे ?

(सर्ग ४ श्लोक ८९)

भावार्थ—हे अंतःकरण ! वियोगरूपी ज्वाला से प्रज्वलित होकर भी तू क्यों नहीं विलय को प्राप्त होता ? यदि तू लोहे का है, तो भी तो तप्त होने से तुझे गल जाना चाहिए ! यदि यह कहूँ कि तू लोहे का नहीं, किंतु वज्र का है, इससे नहीं गलता, तो तू काम-बाणों से बिध रहा है। अतएव तू वज्र का भी नहीं। फिर तू ही कह, तू किस वस्तु से बना है ? क्यों नहीं तू विदीर्ण हो जाता ?

विलम्बसे जीवित ! किं, द्रव द्रुतं
ज्वलत्यदस्ते हृदयं निकेतनम् ॐ;
जहासि नाद्यापि मृषासुखासिका-
मपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ।
(सर्ग ६, श्लोक ६०)

भावार्थ—हे जीवित ! तू देरी क्यों कर रहा है ? क्यों नहीं झटपट निकल खड़ा होता ? क्या तुझको सूझ नहीं पड़ता कि तेरा घर, अर्थात् मेरा हृदय, जहाँ तू बैठा है, जल रहा है ? तेरा आलस्य देखकर आश्चर्य होता है। क्या अब तक तुझको सुख की आशा बनी हुई है ? जब घर में आग लगती है, तब उसमें कोई नहीं रहता; शीघ्र ही बाहर निकल आता है—यह भाव।

ॐ जान पड़ता है कि फ़ारसी के कवि ग़ाफ़िल के समान दमयंती को भी यह ज्ञान न था कि इसी हृदय में मेरे प्रियतम का वास है। यदि ऐसा न होता, तो वह उसे जलने क्यों देती ? ग़ाफ़िल ने कहा है—

दिल रा अबस बफ़ुरक़त जानाना सोख़्तेम ;
ग़ाफ़िल कि ऊ बख़ाना व मा ख़ाना सोख़्तेम।

अर्थात्—प्रियतम के वियोग में हमने अपने हृदय को वृथा जलाया। हम यह न जानते थे कि इसी हृदयरूपी घर में उसका निवास है। हा ! जिस घर में वह था, उसी को हमने जला दिया ?

कवि का आशय यहाँ ईश्वर से है, तथापि किसी भी प्रेमी के विषय में ऐसी उक्ति घटित हो सकती है।

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणाः
किंयत्सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ;
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता
न तं मनस्तच्च न कायवायवः ।
(सर्ग ९, श्लोक ९४)

भावार्थ—इस समय मेरा एक-एक क्षण एक-एक युग के समान जा रहा है। कहाँ तक सहन करूँ ! मुझे मृत्यु भी नहीं आती। मेरा प्रियतम मेरे अंतःकरण को नहीं छोड़ता, और मेरा प्राण मेरे मन को नहीं छोड़ता। हाय-हाय ! अपार दुःख परंपरा है !

कथावशेषं तव सा कृते गते-
त्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते ?
दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे
तदापि तावद्यदि नाथ ! नाधुना ।
(सर्ग ९, श्लोक ९६)

भावार्थ—हे प्रियतम ! तुम्हारे लिये दमयंती कथावशेष हो गई—पंचत्व को प्राप्त हो गई—यह तुम पीछे से क्या न सुनोगे ? जरूर सुनोगे। अतः हे नाथ ! यदि इस समय मुझ पर तुमको दया नहीं आती, तो उस अमंगल संवाद को सुनने पर तो अपनी दया के दो-एक कणों से मुझे अनुगृहीत करना। अर्थात् मेरे मरने पर भी मेरा स्मरण यदि तुमको आ जायगा, तो भी मुझ पर तुम्हारा महान् अनुग्रह होगा ।

ममादरीदं विदरी तुमान्तरं
तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ;
भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे
हृतासुभिः प्राणसमः समं गमः ।
(सर्ग ६, श्लोक १००)

भावार्थ—हे अर्थिकल्पद्रुम ! अब मेरा हृदय विदीर्ण होने ही चाहता है। इससे मैं तुमसे कुछ माँगती हूँ। हे प्राणसम ! मेरा हृदय फटने से दरार रूपी जो द्वार हो जायगा, उस द्वार से, मेरे पापी प्राणों के साथ, मेरे हृदय से कहीं तुम न चले जाना ! बस, यही मेरी याचना है।

दमयंती का यह कहना नल के ऊपर वज्राघात-सा हुआ। क्या ही अपूर्व कवित्व है ! याचकों के कल्पद्रुम से उसकी प्रियतमा की यह याचना ! इतनी तुच्छ ! याचना क्या कि प्राण चले जायँ, परंतु तुम न जाओ। क्योंकि, तुम्हारे रहने से, वासना के बल, मैं अन्य जन्म में तुमको प्राप्त करने की अद्यापि आशा रखती हूँ। दमयंती का यही आशय जान पड़ता है। इस पाषाण-द्रावक विलाप और इस महाप्रेमशालिनी याचना को सुनकर नल अपना दूतत्व भूल गए। उनका सारा ज्ञान जाता रहा। वह इस प्रकार प्रलाप करने लगे—

अयि प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते ?
विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ?

पुरस्त्वयालोकि नमन्नयन्न किं
तिरश्चलल्लोचनलीलया नलः ?
(सर्ग ९, श्लोक १०२)

भावार्थ—हे प्रिये ! किसके लिये तू इतना विलाप कर रही है ? हाय-हाय ! क्यों तू अश्रुओं से अपने मुख को भिगो रही है ? यह नल, तेरे सम्मुख हो तो, तिर्यक् दृष्टि किए हुए नम्रता-पूर्वक खड़ा है । क्या तूने उसे नहीं देखा ?

मम त्वदच्छाङ्घ्रिनखामृतद्युतेः
किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ;
उपासनामस्य करोतु रोहिणी
त्यज त्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ।
(सर्ग ९, श्लोक १०७)

भावार्थ—मेरी किरीट-मणि-मयूख-रूपी रोहिणी तेरे स्वच्छ पद-नख-रूपी चंद्रमा की उपासना करने के लिये प्रस्तुत है। अर्थात् मैं अपना सिर तेरे पैरों पर रखता हूँ। हे अकारण-कोपने ! कोप न कर, कोप न कर !

रोहिणी चंद्रमा की प्रिया है। अतएव उसके द्वारा चंद्रमा की उपासना होनी ही उचित है—यह इस श्लोक का तात्पर्य है।

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा
प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ?

क याचतां कल्पलतासि मां प्रति

क दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ।

(सर्ग ६, श्लोक १०६)

भावार्थ—मेरा और अधिक गौरव कर अथवा न कर ; इस विषय में मैं कुछ नहीं कहता ; परंतु मेरे प्रणाम-मात्र का अंगीकार करने में कौन बड़ा परिश्रम है ? याचकों के लिये तो तू कल्पलता हो रही है ; परंतु मेरे लिये इतनी बद्धमुष्टिता कि दृष्टि-दान तक नहीं देती—एक बार मेरी ओर देखती भी नहीं !

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषां

स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः ;

दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी

विकाशि पंकेरुहमस्तु ते मुखम् ।

(सर्ग ६, श्लोक ११२)

भावार्थ—अश्रु बरसाना बंद कर ; मंद मुसकान से चंद्र की भी चंद्रिका को प्रसन्न कर ; नेत्र-रूपी खंजनयुग्म को खेलने दे ; कमल के समान मुख को प्रफुल्लित कर ।

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः

प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ ;

निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य य-

न्मम त्वमेकासि नलस्य जीवितम् ।

(सर्ग ६, श्लोक ११६)

भावार्थ—कृपा करके बोल ; दया करके चुंबन-दान दे ; प्रसन्न होकर अपने शरीर को स्पर्श करने दे ; क्योंकि चंद्रमा के किरण-समूह की अवलंबभूता निशा के समान, मुझ नल की एक-मात्र तू ही प्राणाधार है।

इस प्रकार प्रलाप करने के अनंतर जब प्रबोध हुआ, तब नल ने अत्यंत पश्चात्ताप किया। लोग मुझे क्या कहेंगे ? सुरेंद्रादि देवता अपने मन में क्या समझेंगे ? इस प्रकार तर्क-वितर्क करके नल ने बहुत विषाद किया। इस अवसर की एक उक्ति नल के मुख से सुनिए—

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभराद्
यदस्य शुद्धैर्विबुधैर्विबुध्यताम् ;
विदन्तु ते तत्त्वमिदन्तु दन्तुरं
जनानने कः करमर्पयिष्यति ?

(सर्ग ६, श्लोक १२४)

भावार्थ—मेरा हृदय लज्जा से फट क्यों नहीं जाता ? यदि यह फट जाता, तो शुद्ध-हृदय देवतों को इसकी शुद्धता तो विदित हो जाती। देवतों को मेरे हृदय की शुद्धता विदित हो, अथवा न हो, परंतु नाना प्रकार की अपवाद-सूचक बातें करनेवाले लोगों के मुख पर कौन हाथ धरेगा ? यही महा-दुःख है !

नल ने किस युक्ति और किस दृढ़ता से देवतों का काम किया, सो लिखा ही जा चुका है। तिस पर भी ऐसे-ऐसे उद्गार !

नल की धर्म-भीरुता का यह बड़ा ही जाज्वल्यमान प्रमाण है।

जिस समय नल के मन में नाना प्रकार की विषम कल्पनाएँ उत्पन्न हो रही और उसे विकल कर रही थीं, उसी समय उस हिरण्मय हंस ने अकस्मात् आकर आश्वासन-पूर्वक यह कहा कि इतना व्यथित होने की कोई बात नहीं। देवता तुम्हारी शुद्धता को अच्छी तरह जान गए हैं। इतना कहकर हंस वहाँ से उड़ गया। हंस के जाने पर नल ने दमयंती से बहुत कुछ कहा, परंतु जो दमयंती पहले इतनी प्रगल्भता कर चुकी थी, उसके मुख से, नल की पहचान होने के अनंतर, एक शब्द तक भी न निकला। श्रीहर्षजी कहते हैं—

विदर्भराजप्रभवा ततः परं
त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्;
पुरस्तसूचेऽभिमुखं यदत्रपा
ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः।

(सर्ग ९, श्लोक १४०)

भावार्थ—इतना होने पर दमयंती लज्जा से इतनी अधोमुख हो गई कि नल की एक भी बात का वह उत्तर न दे सकी। पहले उसने नल के अभिमुख विशेष प्रौढ़ता के साथ बातचीत की थी। इसीलिये उसे अब इस समय लज्जा के समुद्र में निमग्न होना पड़ा।

इसी के आगे यह श्लोक है—

यदापवार्य्यापि न दातुमुत्तरं
शशाक सख्याः श्रवसि प्रियाय सा ;
विहस्य सख्येव तमब्रवीत्तदा
ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया ।

(सर्ग ६, श्लोक १४१)

भावार्थ—एकांत में भी जब दमयंती अपनी सखी के कान में भी नल के प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ न हुई, तब सखी ही ने मंदहास्य-पूर्वक नल से कहा—"आपकी प्रियतमा लज्जापरवशा होने के कारण मौन हो रही है।" इसके न बोलने का कारण विराग नहीं, यह भाव।

तदनंतर सखी ने नल से दमयंती के अनुराग और विरह-व्यथादि का वर्णन खूब ही नमक-मिर्च लगाकर किया।

यह निबंध बहुत बढ़ गया। अतएव दो ही चार और श्लोक उद्धृत करके हम इसको समाप्त करना चाहते हैं। नीचे के पद्य में श्रीहर्षजी की कल्पना का 'द्राविड़ो प्राणायाम' देखने योग्य है। स्वयंवर में आए हुए एक राजा के विषय में यह कहना है कि इसमें अकीर्ति का लेश भी नहीं है। परंतु इस बात को श्रीहर्षजी सीधे तौर पर न कहकर इस प्रकार कहते हैं—

अस्य क्षोणिपतेः परार्द्धपरया लक्षीकृताः संख्यया
प्रज्ञाचक्षुरवेक्ष्यमाणतिमिरप्रख्याः किलाकीर्तयः ;

गीयन्ते स्वरमष्टमं कलयता जातेन वन्ध्योदरा-

न्मूकानां प्रकरेण कूर्म्मरमणीदुग्धोदधे रोधसि ।

(सर्ग १२, श्लोक १०६)

भावार्थ—परार्द्ध के पार की संख्या से लक्षीकृत और जन्मांधों से दृश्यमाण तिमिर के स्वरूपवाली, इस राजा की अकीर्तियाँ, कच्छपी के दुग्ध से उत्पन्न हुए समुद्र के तट पर, वंध्या के उदर से उत्पन्न मूकों के समूह द्वारा, अष्टम स्वर में, गाई जाती हैं। अर्थात् जैसे इन सब वर्णित वस्तुओं का अभाव है, वैसे ही इस राजा की अकीर्तियों का भी अभाव समझना चाहिए। इस नरेश में अकीर्तिलेश भी आकाशकुसुमवत् है—यह भाव।

श्लेषमयी 'पंचनली' का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। उसका अंतिम श्लिष्ट श्लोक यह है—

देवः पतिर्विदुषि ! नैषधराजगत्या

निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ?

नायं नलः खलु तवातिमहा नलाभो

यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते ?

(सर्ग १३, श्लोक ३३)

नल के सम्मुख दमयंती खड़ी है। इस श्लोक में नल और देवता दोनो का अर्थ व्यंजित करके, सरस्वती उसे मोह में डाल रही है। देवार्थ कैसे निकलता है, सो पहले देखिए—

अन्वय—(हे) विदुषि ! एषः धराजगत्याः पतिः न,

(किंतु) देवः। भवत्या न निर्णीयते किमु ? न व्रियते (किमु) ? अयं तव नलः न खलु, (किंतु) अति महान-लाभः। यदि एनम् उज्झसि, पुनः ते वरः कतरः ?

भावार्थ—हे विदुषि! यह पृथ्वी का पति नहीं है; यह देवता है। क्या तू इसको वरणमाल्य पहनाने की इच्छा नहीं रखती ? सच कहती हूँ, यह तेरा नल नहीं है; किंतु नल की आभा-मात्र है। यदि तू इसे छोड़ देगी, तो फिर और कौन तेरा वर होगा ?

यह तो देव-पक्ष का अर्थ हुआ। अब नल-पक्ष का अर्थ सुनिए—

अन्वय—(हे) विदुषि! एषः देवः* नैषधराजगत्या पतिः न निर्णीयते किमु ? न व्रियते (किमु) ? अयं ना† नलः खलु; यदि एनम् उज्झसि, तव अति महान् अलाभः; पुनः ते वरः कतरः ?

भावार्थ—हे विदुषि! (पंडिते!) नैषधराज के वेश में अपने पति इस राजा को क्या तू नहीं पहचानती और क्या तू इसको वरणमाल्य पहनाने की इच्छा नहीं रखती ? यदि तू इसे छोड़ देगी, तो तेरी भारी हानि होगी; फिर और कौन तेरा वर होगा ?

श्रीहर्षजी की 'पंचनली' के श्लिष्ट कवित्व का यह नमूना

---

* देवः = राजा। † ना = पुरुषः।

हुआ। त्रयोदश सर्ग में इसी तरह अपूर्व कौशल से उन्होंने प्रायः प्रत्येक श्लोक में बराबर दो-दो अर्थ संश्लिष्ट किए हैं।

श्रीहर्ष के श्लेषवैलक्षण्य का एक और उदाहरण देखिए। इस पद्य को पढ़कर बड़ी हँसी आती है। कवि ने इसमें चंद्रमा की नाक और कान काटकर, शूर्पणखा के मुख से उसकी तुलना की है। बाईसवें सर्ग में, संध्या-समय, दमयंती को संबोधन करके नल चंद्रमा का वर्णन करता है—

> अकर्णनासस्त्रपते मुखं ते
>
> पश्यन्न सीतास्यमिवाभिरामम्;
>
> रक्तोस्नवर्षी बत लक्ष्मणाभि-
>
> भूतः शशी शूर्पणखामुखाभः।
>
> (सर्ग २२, श्लोक ५१)

भावार्थ—कर्ण और नासा-रहित, लाल-लाल किरणों की वर्षा करनेवाला, कलंक से अभिभूत हुआ, शूर्पणखा के समान, यह चंद्रमा—सर्व-अवयव-संयुत, सीता के मुख-सदृश सुंदर, तेरे इस मुख को देख करके भी लज्जित नहीं होता! अर्थात् लज्जा से मुख न छिपाकर पुनः-पुनः आकाश में उदित होता है। यह आश्चर्य की बात है या नहीं? इसे तो डूब मरना चाहिए था!

चंद्रमा और शूर्पणखा के मुख में समता किस प्रकार है, सो सुनिए। शूर्पणखा के नाक और कान काट लिए जाने के कारण उसका मुख नासा-कर्ण-हीन हो गया था। चंद्रबिंब में

स्वभाव ही से नासा और कर्ण नहीं। अतएव दोनो ही 'अकर्णनास' हुए। नाक-कान कट जाने से शूर्पणखा के मुख से रक्त की धारा बहने लगी थी। चंद्रमंडल से रक्त के रंग की अरुण किरण-रूपी धारा बहती है। अतएव दोनो ही 'रक्तोस्रवर्षी' हुए। शूर्पणखा का मुख लक्ष्मणजी के द्वारा अभिभूत हुआ था। चंद्रमा भी 'लक्ष्मणा कलंकेन' अर्थात् कलंकवाची लक्ष्म के द्वारा अभिभूत हो रहा है। अतएव दोनो ही 'लक्ष्मणाभिभूत' हुए। शूर्पणखा के मुख को 'अभिरामं सीतास्यं' अर्थात् रामचंद्र के सम्मुख स्थित भी सीता के मुख को देखकर लज्जा न आई थी। यहाँ चंद्रमा को भी 'अभिरामं सीतास्यमिव' अर्थात् अति सौंदर्यवान् सीता के मुख-सदृश दमयंती के मुख को देखकर लज्जा नहीं आती। इस प्रकार शब्दच्छल से दोनो में समता दिखा दी गई। देखिए तो सही, कैसे योग्यता-पूर्ण श्लिष्ट पद रखकर और चंद्रमा की नाक तथा कान काटकर, शूर्पणखा के मुख की तुल्यता उसमें उत्पन्न की गई है! कवे धन्योऽसि।

दमयंती के पाणि-ग्रहण के समय के दो श्लोक सुनिए। कहीं-कहीं यह आचार है कि कन्यादान के समय वधू और वर दोनो के हाथ कुश से बाँध दिए जाते हैं। इस बाँधने पर उत्प्रेक्षा—

> वरस्य पाणिः परघातकौतुकी
>
> वधूकरः पङ्कजकान्तितस्करः!

सुराज्ञि तौ तत्र विदर्भमण्डले
ततो निबद्धौ किमु कर्कशैः कुशैः ?

(सर्ग १६, श्लोक १३)

भावार्थ—वर के हाथ ने परघात करना कौतुक समझा है, और वधू के हाथ ने कमल की कांति चुराई है। क्या इसीलिये वधू और वर दोनो के हाथ कर्कश कुशों से बाँधे गए हैं ? विदर्भ-मंडल में सुराज्य है, अर्थात् विदर्भाधिप धर्मानुसार प्रजा-पालन करते हैं। अतएव उनके देश में चोर और पर-प्राण-नाशक लोगों के अवश्य ही हथकड़ी पड़नी चाहिए !

'पर' का अर्थ 'और' भी है, तथा 'शत्रु' भी है। नल के लिये 'पर' से 'शत्रु' का अर्थ-ग्रहण करके पर-हिंसाजात अनिष्टापत्ति का वारण करना चाहिए। शत्रुओं को मारना राजों का धर्म ही है; इस कारण उस अर्थ से कोई हानि नहीं। तथापि, वर के हाथ में कुशबंधन-रूपी हथकड़ी डालने के समर्थनार्थ, शब्दच्छल से, 'पर' का अर्थ 'और' भी लेना पड़ता है। तात्पर्य यह कि पहले तो श्लेषमूलक विरोध का आभास बोध होता है; फिर उसका परिहार हो जाता है।

ऊपर दिए गए श्लोक के आगे, दूसरे श्लोक में, श्रीहर्षजी ने कैसा विनोद किया है, सो देखिए—

विदर्भजायाः करवारिजेन य-
न्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल ;

विशंक्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्
भविष्यतोऽस्मायि सदा तदालिभिः।
(सर्ग १६, श्लोक १९)

भावार्थ—कन्यादान के समय दमयंती के कर-कमल को नल के कर के ऊपर देख—आगे होनेवाले पुरुषायित का अभी से सूत्रपात हुआ—इस प्रकार मन में तर्क करके दमयंती की सहेलियाँ मुस्काने लगीं।

और-और द्वीपों के स्वामियों, देवतों तथा वासुकि आदि नागों का वर्णन करके, दमयंती को साथ लिए हुए, भरतखंड के राजवर्ग के सम्मुख आकर सरस्वती कहती है—

देव्याभ्यधायि भव भीरु! धृतावधाना
भूमीभुजस्त्यजत भीमभुवो निरीक्षाम्;
आलोकितामपि पुनः पिबतां दृशैता-
मिच्छापि गच्छति न वत्सरकोटिभिर्वः।
(सर्ग ११, श्लोक २४)

भावार्थ—हे भीरु! (दमयंति!) सावधान होकर श्रवण कर। हे राजवर्ग! आप लोग भी अब दमयंती की ओर देखना बंद कीजिए। क्योंकि करोड़ों वर्ष पर्यंत बार-बार देख-करके भी, इस लावण्य को नेत्र द्वारा यदि आप पान करते रहेंगे, तो भी आपकी कदापि तृप्ति न होगी।

जिस प्रकार दमयंती को पुनः-पुनः अवलोकन करके फिर भी उसकी ओर देखने की इच्छा राजा लोगों की बनी ही

रही, उसी प्रकार नैषध में क्लिष्टता और अस्वाभाविकता आदि दोष होने पर भी जो अनेक अद्भुत-अद्भुत श्लोक हैं, उनको उद्धृत करने की हमारी इच्छा बनी ही है। तथापि यह लेख बहुत बढ़ गया। अतएव, विवश होकर, उस इच्छा को पूर्ण सफल करने से हमें विरत होना पड़ता है।

यह काव्य शृंगार-रस-प्रधान है। अतएव उस रस के अनुकूल एक आशीर्वादात्मक पद्य नैषध से उद्धृत करके इस निबंध को हम समाप्त करते हैं। ऊपर जो श्लोक दिया गया है, उसी के आगे स्वयंवरस्थ राजा लोगों का संबोधन करके सरस्वती कहती है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
शृंगारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्;
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः।
(सर्ग ११, श्लोक २५)

भावार्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के भी शांतभाव को जिसने शृंगारिक भावों से जर्जर कर दिया है; और अपने पाँचो बाणों से जिसने सांसारिक जनों की पाँचो इंद्रियों को क्षुब्ध किया है—ऐसा वह भगवान् पंचशायक आपको प्रमुदित करे!

ऊपर कई एक सानुप्रास पद्य उद्धृत हो चुके हैं। इस श्लोक से भी श्रीहर्षजी के अनुप्रास-कौशल की छटा झलक रही है।